

दंसण मूल्लो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आद्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९५ तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष २५ अंक नं० ५

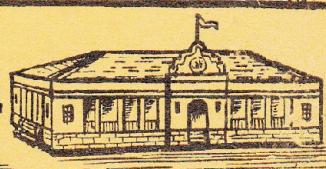
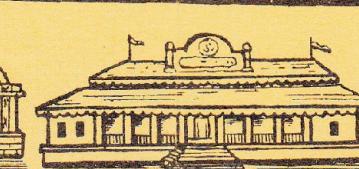
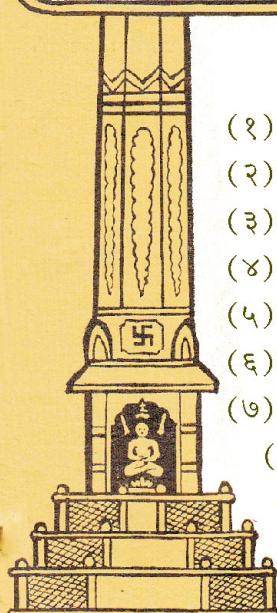
तत्त्वज्ञान की दस बातें

- (१) आत्मा की अमरता को जाने तो मरण का भय मिट जाये ।
- (२) मरण को जाननेवाला स्वयं कभी नहीं मारता ।
- (३) शरीर आया और गया, आत्मा तो वही रहा ।
- (४) आत्मा को आत्मा का वियोग कभी नहीं होता ।
- (५) शरीर के वियोग से कहीं आत्मा का वियोग नहीं होता ।
- (६) सिद्ध भगवंत् सदाकाल शरीर के बिना ही जी रहे हैं ।
- (७) देह-गुफा में आत्मा विद्यमान है, उसे लक्ष में लो ।
- (८) सिद्ध भगवान् को ढूँढ़ने के लिये अंतर्मुख होकर आत्मा में देखो ।
- (९) शरीर आता है-जाता है, परंतु आत्मा कभी शरीररूप नहीं होता ।
- (१०) राग में कभी सुख नहीं है और वीतरागता में कभी दुःख नहीं है ।

चाश्चित्र

ज्ञान

दर्शन



श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर द्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

सितम्बर १९६९

वार्षिक मूल्य
३) रुपये

(२९३)

एक अंक
२५ पैसा

[श्रावण सं० २४९५

हिन्दी साहित्य प्रकाशन संबंधी

आवश्यक विज्ञप्ति

मुमुक्षु भाई-बहिनों को सूचित करते हुए हर्ष होता है कि—श्री दिग्म्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट ने निम्नोक्त पुस्तकें प्रकाशित करने का विचार किया है। इसलिये जिन नगरों में मुमुक्षु मंडल हैं, वे पत्र द्वारा सूचित करें कि उन्हें किस पुस्तक की कितनी प्रतियों की आवश्यकता है। मुमुक्षु मंडलों की ओर से पर्याप्त संख्या में आर्डर आने पर पुस्तकें छपाने की व्यवस्था की जायेगी, इसलिये शीघ्र हमें सूचित करें।

मुमुक्षु मंडलों के अध्यक्ष महानुभावों से निवेदन है कि वे अपने मंडल के लिये आवश्यक पुस्तकों की बिल्कुल सही संख्या सूचित करें। पुस्तकों के लिये कोई अग्रिम राशि भेजने की आवश्यकता नहीं है; परंतु इस बात की गारंटी दें कि आपका मंडल इतनी प्रतियाँ अवश्य खरीद लेगा।

जिन नगरों में मुमुक्षु मंडल नहीं हैं, वहाँ के मुमुक्षु व्यक्तिगत रूप से हमें अपनी आवश्यकतानुसार पुस्तकों की संख्या लिखें।

संस्था के नियमानुसार पुस्तकों का मूल्य लागत से कम रखा जायेगा। किस पुस्तक का कितना मूल्य रखा जाये, वह बाद में तय किया जायेगा। अभी निम्नोक्त चार पुस्तकें प्रकाशित करने का विचार है:—

- (१) श्री समयसार शास्त्र (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत)
- (२) श्री श्रावकधर्म प्रकाश (श्री पद्मनन्दि-पंचविंशतिका के देशब्रतोद्योतन अधिकार पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन)
- (३) श्री अनुभव प्रकाश (श्री दीपचंदजी कासलीवाल कृत)
- (४) श्री ज्ञानचक्षु (श्री समयसार गाथा ३२० की जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन)

प्रेषक—

साहित्य प्रकाशन समिति

श्री दिग्म्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

ॐ आत्मधर्म ॐ

संपादक : (१) श्री ब्र० गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

सितम्बर : १९६९ ☆ श्रावण, वीर निं०सं० २४९५, वर्ष २५ वाँ ☆ अंक : ५

आत्मिक रुचि है अनंत सुखसाधिनी

परम अखंड ब्रह्मंड विधि लखे न्यारी, करम विहंड करे महा भवबाधिनी,
अमल अरूपी अज चेतन चमतकार, समैसार साधे अति अलख अराधिनी,
गुण को निधान अमलान भगवान जाको प्रत्यक्ष दिखावे जाकी महिमा अबाधिनी,
एक चिदरूप को अरूप अनुसरे ऐसी, आत्मिक रुचि है अनंत सुखसाधिनी ॥६ ॥

आत्मिक रुचि अनंत सुख को साधनेवाली है—कैसी है वह रुचि ? परम अखंड चैतन्य ब्रह्म को वह कर्म से भिन्न देखती है, कर्म को खंड-खंड कर देती है, भवभ्रमण की अत्यंत बाधक है अर्थात् भवभ्रमण को रोकनेवाली है; निर्मल अरूपी अविनाशी चैतन्यचमत्कार को देखनेवाली है, शुद्धात्मारूप समयसार को अत्यंतरूप से साधनेवाली है और अलख-अतीन्द्रिय चैतन्य की आराधना करनेवाली है; गुण का निधान तथा संकोच रहित ऐसा जो भगवान आत्मा, उसे वह प्रत्यक्ष बतलानेवाली है, उस आत्मरुचि की महिमा अबाध्य है—वह किसी से बाधित नहीं होती, और वह रुचि एक अरूपी चैतन्यस्वरूप का ही अनुसरण करनेवाली है।—ऐसी आत्मरुचि अनंत सुख की साधक है।

[कवि श्री दीपचंदजी शाह रचित 'ज्ञानदर्पण' से]



अनुभवशील जीव परम सुखी है

[श्री समयसार कलश ६९-७० पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन]

अनुभवशील जीव परम सुखी है—ऐसा अनुभव कैसे प्रगट हो ? वह यहाँ बतलाते हैं। शुद्ध चैतन्य वस्तु में तन्मय होने पर अतीन्द्रिय सुख का स्वाद आता है। शांत-निर्विकल्प होकर ऐसा अनुभव होता है। परंतु अशुद्धता अथवा शुद्धता के विकल्प ही किया करे कि ‘मैं ऐसा हूँ—मैं ऐसा हूँ’—तब तक विकल्प के कर्तृत्व परिणाम में रुक जाने से उस जीव को चैतन्य के सुख का अनुभव नहीं होता। अंतर्मुख नहीं करता, वहाँ तक किन्हीं विकल्पों के कर्तृत्व में रुका हुआ है। विकल्प में परमार्थ आत्मा विषयरूप नहीं होता, उपयोग अंतरंग में ज्ञुके, तभी आत्मा यथार्थ स्वरूप से विषयरूप होता है। उपयोग विकल्प में रुकता है, वहाँ तक आत्मा लक्षण नहीं होता। इसलिये कहते हैं कि विकल्प में आकुलता है—दुःख है, उसमें निर्विकल्प सुख का अनुभव नहीं होता है। वस्तु मात्र का ज्ञान में अनुभव करने पर विकल्प मिटता है, तथा परम सुख होता है।

धर्मी जीव कैसा है ?—कि शुद्ध चेतनमात्र जीवस्वरूप का अनुभवनशील है। धर्मी का यह लक्षण बहुत ही संक्षिप्त और बहुत ही अच्छा है। अनुभव में चैतन्यवस्तु का साक्षात् स्वाद आता है, वहाँ कोई कल्पना नहीं रहती, विकल्प नहीं रहते। सूक्ष्म कहो कि सरल कहो—वस्तुस्वरूप तो ऐसा ही है। भगवान ने जैसा आत्मा देखा, वैसा ही यह जीव अंतर में देखने जाये तब गुणभेद के विकल्प उसे नहीं रहते, समरसस्वरूप अतीन्द्रिय आनंद के वेदन सहित आत्मा दिखाई देता है। विकल्प तो विषमभाव है, विषमभाव में आत्मा का अनुभव नहीं होता, शांतचित्तरूप समभाव (निर्विकल्प भाव) में आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है। तथा ऐसा अनुभव करनेवाले जीव ही परम सुखी हैं।—इसमें वीतरागभावरूप धर्म है।

गुणभेदरूप विकल्प में वीतरागता नहीं, इसलिये उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी नहीं; उसमें तो दुःख है। आंगन में आकर स्वरूप में किस प्रकार जाना, वह बात है। शुद्ध चैतन्यवस्तु में उपयोग तन्मय होने से विकल्प छूट गया और अभेद अनुभूति हुई—उस समय

शांतचित्त हुआ और वह जीव चैतन्य के साक्षात् अमृत को पीता है—उसमें सम्पर्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का समावेश हो जाता है ।

एक सत्त्व को अनेक प्रकार कल्पना में लेने से पक्षपात होता है, विकल्प होता है; उस अनेकरूप कल्पना से रहित होकर उपयोग जहाँ एकरूप वस्तु में एकाग्र हुआ, वहाँ शुद्धस्वरूप का अनुभव होता है और निर्विकल्प शांतरस उल्लसित होता है । ऐसा अनुभव होने पर ही सम्पर्यादर्शन होता है, तभी परमार्थ दर्शन होता है और तभी मोक्षमार्ग खुलता है । इसलिये ऐसा अनुभवनशील जीव परम सुखी है ।

अरे, इस आत्मा को अपने अंतर की बात क्यों समझ में नहीं आयेगी ? अपना जैसा शुद्धस्वरूप है, वैसा ही लक्ष में आये तो विकल्प छूट जाता है और निर्विकल्प अनुभव में अतीन्द्रिय आनंद होता है । उस आनंद के स्वाद में किसी राग की—विकल्प की अपेक्षा नहीं रहती । उस आनंद का अनुभव अपने स्वसंवेदन ज्ञान में प्रत्यक्ष है, इन्द्रियों का उसमें आलंबन नहीं, मन के विकल्प की उसमें अपेक्षा नहीं है । ऐसे अनुभव का होना ही महान सुख है ।

आत्मा का स्वभाव मोहरहित है । वह मोहरहित है—यह बात सच, परंतु ‘मोहरहित हूँ’ ऐसा उसका विकल्प, वह कहीं आत्मा नहीं; उस विकल्प के परिणमन में खड़ा रहकर आत्मा अनुभव में नहीं आता है । अकर्ता-अभोक्ता के विकल्पों द्वारा अकर्ता-अभोक्तारूप परिणमन नहीं होता । परंतु विकल्प से भिन्न होकर वस्तु का अनुभव होने पर अकर्ता-अभोक्तारूप परिणमन हो जाता है । विकल्प से भिन्न उपयोग अंतर में साक्षात् शुद्धात्मा को संचेतता है—अनुभव में लेता है । ऐसा अनुभव, वह धर्म है; तथा ऐसे एक क्षण का धर्म केवलज्ञान को शीघ्रता से बुलवाता है कि शीघ्र आ ।

मोहरहित के विकल्प में रुकना, वह भी मोह ही है । उस विकल्प में रुके हुए जीवों को अनुभवरूप परिणमन नहीं होता परंतु मोहरूप परिणमन होता है । वस्तु को अनुभव में ले तो विकल्पों का नाश होकर आनंद का अनुभव होता है । भाई, किसमें खड़ा रहकर तू वस्तु को अनुभव में लेगा ? क्या शुद्धनय के विकल्पों में खड़ा रहकर अपनी वस्तु को अनुभव में लेना है ? तो इसप्रकार अनुभव नहीं होगा । विकल्प में वस्तु का अनुभव नहीं होता । वस्तु में सीधा उपयोग जोड़ने से वस्तु अनुभव में आती है । विकल्प में शुद्ध वस्तु का परिणमन नहीं, उसमें तो राग का परिणमन है । अंतर में उपयोग ज्ञुका और निर्विकल्प अनुभव हुआ, उसी में शुद्ध वस्तु

का परिणमन है। वस्तु में नहीं जाये और विकल्प में खड़ा रहे तो अनुभव का स्वाद नहीं आता परम सुख नहीं होता और दुःख भी नहीं मिटता है। अनुभवी जीवों के हृदय बहुत गंभीर हैं।

विकल्पों की जाल को 'स्वेच्छा'—अपने कारण ही खड़ी होती है, ऐसा कहा है, अर्थात् वस्तु में से वह विकल्प नहीं उठता। वस्तु के वेदन में विकल्प नहीं। विकल्प वस्तु का अवलंबन नहीं लेता। वस्तु का अवलंबन ले तो विकल्प नाश हुए बिना रहे नहीं। वस्तु को जो अनुभव में नहीं लेता और नय-पक्ष के विचार किया करता है, उसे विकल्प स्वयमेव उठते रहते हैं, उस विकल्प-जाल को छेदकर अंतर के चैतन्यस्वरूप में जो गुप्त हुआ, वह समरसमय एकस्वभाव का अनुभव करता है, शुद्ध समयसार को ही संचेतता है—अनुभवता है। अनुभव में ऐसे चैतन्यप्रकाश की स्फुरणा होने पर ही विकल्पों का जाल विलीन हो जाता है। वहाँ कोई विकल्प नहीं उठता।

चैतन्य की ऐसी अनुभूति, वही जैनधर्म की मूल वस्तु है। ऐसी अनुभूति में ही वीतरागी मोक्षमार्ग का समावेश होता है; और ऐसे अनुभवशील जीव परम सुखी हैं।



अहा, वे दृश्य कैसे होंगे कि जब कुन्दकुन्दस्वामी तथा अमृतचंद्रस्वामी जैसे धर्म धुरंधर दिगम्बर संत हाथ में कमंडल और पीँछी लेकर इस भरतभूमि में विचरते होंगे और ऐसा 'आत्मवैभव' जगत के जीवों को दिखलाते होंगे। ये वीतरागमार्गी संत मानों सिद्धपद को साथ में लेकर विचरते थे, इनकी परिणति अंतमुख होकर प्रति समय सिद्धपद को भेटती थी।—ऐसे मुनियों ने तीर्थकरदेवों का शासन टिकाया है।

भेदज्ञान-पुष्पमाला

स्वामीजी को प्रिय ऐसा समयसार शास्त्र और उसमें भी विशेष प्रिय ऐसा कर्ता-कर्म अधिकार, उसके प्रवचनों में से ८० प्रश्न-उत्तर की यह भेदज्ञान-पुष्पमाला गूँथकर आत्मधर्म में दे रहे हैं। ऐसे ६० पुष्प आप गतांक में पढ़ चुके हैं, शेष २० पुष्प यहाँ दिये जा रहे हैं। — सम्पादक

[गतांक से आगे]

(६१) जिनशासन में राग का भी तो कथन है ?

— पदार्थों का स्वरूप बतलाने के लिये जिनशासन में कथन तो बहुत-सा आता है, परंतु उस सबको कहीं जिनशासन नहीं कहा जाता। जिनशासन में तो पापों का भी वर्णन आता है, तो क्या पापभाव, वह जिनशासन है ? शुद्ध आत्मा की अनुभूति के बिना जिनशासन को नहीं जाना जा सकता।

(६२) राग को और निमित्तों को जानना, वह जैनशासन है या नहीं ?

— मात्र राग और निमित्तादि को जानने में ही लगा रहे और ज्ञान को शुद्धात्म-स्वभावोन्मुख न करे तो वह जीव जिनशासन में नहीं आया है; क्योंकि जिनशासन में मात्र राग का या निमित्तों का ही कथन नहीं है, परंतु उसमें राग से और निमित्तों से पार ऐसे शुद्ध आत्मा का भी प्रधान कथन है। उस शुद्ध आत्मा को, राग को तथा निमित्तों को—इन सबको जो जाने, उस जीव का ज्ञान शुद्धात्मा की ओर उन्मुख हुए बिना तथा रागादि से विमुख हुए बिना नहीं रहेगा। इसप्रकार स्वभाव, विभाव और संयोग इत्यादि सबको जिनशासन अनुसार जानकर शुद्धनय के अवलंबन द्वारा जो जीव अपने आत्मा को शुद्धरूप अनुभवता है, वही जिनशासन में आया है और उसी ने सकल जिनशासन को जाना है।—ऐसा जीव अल्पकाल में अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है।

(६३) धर्म का प्रारंभ कब होता है ? बोधिबीज कब प्रगट होता है ?

— चैतन्यतत्त्व तो अंतमुख है और रागादिभाव तो बहिर्मुख है, उनके एकत्र नहीं है। जब तक चैतन्य की और राग की भिन्नता को न जाने, तब तक भेदज्ञानरूप बोधिबीज प्रगट नहीं होता। मैं तो चैतन्य हूँ और रागादिभाव तो चैतन्य से भिन्न हैं, ज्ञान में से राग की उत्पत्ति नहीं है और राग में से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं है।—ऐसा भेदज्ञान करे, तब जीव की परिणति राग से हटकर चैतन्यस्वभाव की ओर ढलती है और तब सम्यग्दर्शनादि धर्म का अपूर्व प्रारंभ होता है।

(६४) धर्मलब्धि का काल कब ?

— जीव को भेदज्ञान हुआ कि उसका धर्मलब्धि का काल आ गया। भेदज्ञान ही धर्मलब्धि है। धर्म करनेवाला जीव काल की ओर देखकर नहीं बैठा रहता, परंतु अपने स्वभाव में अंतमुख होता है और स्वभावोन्मुख होने से पाँचों लब्धियाँ एक साथ आ मिलती हैं। स्वभावोन्मुख हो और धर्मलब्धि काल न हो, ऐसा नहीं हो सकता।

(६५) प्रारंभ में शिष्य को क्या करना ?

— प्रारंभ में शिष्य को धर्मलब्धि के लिये भेदज्ञान का अभ्यास करना चाहिये। जिसप्रकार जीव और अजीवद्रव्यों में अत्यंत भिन्नता है। उसीप्रकार चैतन्यभाव और रागादिक भावों में भी अत्यंत भिन्नता है, दोनों की जाति ही भिन्न है।—ऐसा अंतर का भेदज्ञान, वह किसी शुभराग द्वारा नहीं होता परंतु चैतन्य के ही अवलंबन से होता है। भेदज्ञान, वह अंतर की वस्तु है, वह कोई बाहरी पढ़ाई की बात नहीं है।

(६६) कितना पढ़े तो भेदज्ञान हो ?

— अमुक शास्त्र पढ़े, तभी ऐसा भेदज्ञान होता है या व्रत-महाव्रत का पालन करे, उसी को ऐसा भेदज्ञान होता है—ऐसा भेदज्ञान का माप नहीं है। अंतर के वेदन में जिसने चैतन्य को तथा राग को भिन्न जाना और उपयोग को राग से पृथक् करके चैतन्योन्मुख किया, वह जीव भेदज्ञानी है; शास्त्रों ने जैसी ज्ञान और राग की भिन्नता बतलाई है, वैसी ही परिणतिरूप उस धर्मात्मा का परिणमन हुआ है।

(६७) राग के अवलंबन से भेदज्ञान होता है ?

— नहीं; राग से तो अत्यंत भिन्नता करना है; वह भिन्नता राग के अवलंबन द्वारा कैसे होगी ? राग का जिसमें अभाव है, ऐसे चैतन्य के अवलंबन से ही राग और ज्ञान का भेदज्ञान होता है।

(६८) इसमें निश्चय-व्यवहार का भेदज्ञान किस प्रकार आया ?

— निश्चय तो स्वाश्रित चैतन्यस्वभाव है, उस स्वभाव के आश्रय से भेदज्ञान होता है और व्यवहार तो पराश्रित रागभाव है, उसके आश्रय से भेदज्ञान नहीं होता, उसके आश्रय से तो राग ही होता है। निश्चयश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तो अंतर्मुख परिणति है और व्यवहार-श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में तो बहिर्मुख राग परिणति है। जो जीव ऐसा भेदज्ञान करता है, वही जीव राग के साथ की कर्ता-कर्म की अज्ञानवृत्ति से छूटता है। भेदज्ञान होते ही वह अपने चैतन्यस्वभाव के साथ एकता तथा रागादि के साथ भिन्नता से सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्यरूप से परिणमित होता है और बंधन से छूटता है। इस प्रकार भेदज्ञान से ही बंधन का निरोध होता है।

(६९) ज्ञानमात्र से ही बंधन किस प्रकार रुकता है ?

अशुचिपना, विपरीतता यह आस्त्रवों के जानकर,

अरु दुःखकारण जानकर उनसे निवृत्त जीव करे।

सम्मेदिशिखरजी की यात्रा को गये, तब मधुवन में यह गाथा पढ़ी थी। आत्मा का चैतन्यस्वभाव पवित्र है, सुखरूप है और रागादि आस्त्रव चैतन्यरहित हैं, अशुचिरूप हैं, तथा दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं। इस प्रकार चैतन्यस्वभाव से आस्त्रवों की विपरीतता जानकर भेदज्ञानी जीव को उनसे विमुख होना चाहिये। ऐसा भेदज्ञान होने से बंधन नहीं होता।

(७०) भेदज्ञान का अर्थ क्या ?

— भेदज्ञान अर्थात् अंतरोन्मुख ज्ञान; उसका स्वभाव ही क्रोधादि से पृथक् होने का है। ज्ञान का उपयोग स्वभावोन्मुख होकर उसमें एकता करे और रागादि से भिन्नता न हो, ऐसा नहीं होता; इसलिये आत्मोन्मुख ज्ञान को आस्त्रवों से निवृत्ति के साथ अविनाभावी पना है।

यहाँ आचार्यदेव अलौकिक भेदज्ञान द्वारा आत्मा तथा आस्त्रवों की स्पष्ट भिन्नता समझाते हैं। आत्मा और आस्त्रवों में भिन्न स्वभावपना है, इसलिये उनके एकता नहीं परंतु भिन्नता है।

(७१) राग का सच्चा ज्ञान कब होता है ? अथवा राग को कौन जानता है ?

— राग से पृथक् हो, तभी राग का सच्चा ज्ञान होता है; राग में एकता करे, उसे तो राग का भी ज्ञान नहीं होता। चैतन्य है, वह राग से अन्य है और राग में चैतन्य से विपरीतस्वभावपना है, इसलिये वह चैतन्य से अन्य है; वह राग स्वयं अपने को नहीं जानता; और चैतन्यस्वभावी

आत्मा तो स्वयं (राग के अवलंबन बिना ही) स्व-पर को जाननेवाला चेतक है, वह स्वयं अपने को जानते हुए, राग को भी पररूप जानता है। उस चैतन्य से राग अन्य है। इसप्रकार आत्मा और आस्त्रवों को भिन्नस्वभावपना है—ऐसे भेदज्ञान से आत्मा को बंधन रुक जाता है।

(७२) सम्यगदृष्टि को बंधन है या नहीं ?

— नहीं; दृष्टि-अपेक्षा से तो सम्यगदृष्टि को मुक्त कहा है। सम्यक्त्वी की दृष्टि में बंधरहित शुद्ध आत्मा ही है, इसलिये दृष्टि-अपेक्षा से उसे बंधन है ही नहीं। जिसप्रकार अंधकार में और प्रकाश में भिन्नता है, उसीप्रकार अंधकार समान आस्त्रव तथा प्रकाश समान चैतन्य में अत्यंत भिन्नता है। जितना पराश्रित व्यवहार है, वह सब आस्त्रवों में जाता है, वह चैतन्यस्वभाव से भिन्न है और जो स्वाश्रित निश्चय है—स्वाश्रय से हुई निर्मल पर्याय है, उसे चैतन्यस्वभाव के साथ एकता है। ऐसे भेदज्ञान से वहाँ चैतन्य के साथ एकतारूप तथा रागादि से भिन्नतारूप परिणमन हुआ, वहाँ अब बंधन कहाँ रहेगा? बंधन तो वहाँ होता है, जहाँ आस्त्रवभाव हो, परंतु जहाँ आस्त्रवों से छूटकर चैतन्यस्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ उस चैतन्यभाव में बंधन नहीं होता।

(७३) भेदज्ञान के बिना धर्म हो सकता है ?

— नहीं; यह भेदज्ञान करना वह तो मुख्य बात है। भेदज्ञान के बिना किधर झुकना और किससे अलग होना, उसका पता नहीं चलता। अंतर में राग को कारण मानता हो, उसका झुकाव आस्त्रव की ओर ही है; वह आस्त्रवों से पृथक् नहीं होता, आस्त्रवों से भिन्न चैतन्य को वह नहीं जानता; इसलिये उसे धर्म नहीं होता। जो जीव राग से भिन्नता को नहीं जानता, उसे वीतरागभावरूप धर्म कहाँ से होगा?

हे जीव ! धर्मो होने के लिये तू भेदज्ञान की ऐसी दृढ़ता कर कि तीन काल-तीन लोक में आस्त्रव का अंश भी चैतन्यस्वभावरूप भासित न हो। ऐसा दृढ़ भेदज्ञान होने पर तेरी परिणति अंतर्मुख हुए बिना नहीं रहेगी। जहाँ परिणति अंतर्मुख हुई, वहाँ पवित्रता प्रगटी, स्व-परप्रकाशकपना प्रगटा और अतीन्द्रिय सुख प्रगट हुआ, इसलिये दुःख का कारण नहीं रहा। यह भेदज्ञान का कार्य है, यह धर्म है।

(७४) भाई, तुझे भगवान बनना है ?

हाँ; तो क्या भगवान होने का कारण राग होगा? राग तो भगवान से विरुद्धभाव है, वह

भगवान होने का कारण कैसे हो सकता है?—नहीं हो सकता। राग से पृथक् होकर चैतन्यस्वभाव की ओर ढलना ही भगवान होने का कारण है। भगवान चैतन्य तो आनंद का धाम है, उसमें कभी दुःख की उत्पत्ति नहीं होती। राग में से तो आकुलता और दुःख की उत्पत्ति होती है, तो वह चैतन्य का स्वभाव कैसे होगा? अंतर के वेदन से चैतन्य को और राग को अत्यंत भिन्न कर दे!—ऐसी भिन्नता के अनुभव द्वारा तू अवश्य भगवान होगा।

(७५) भेदज्ञान होने से पहले क्या था और पश्चात् क्या हुआ?

— पहले अज्ञानदशा में—‘अपने को आप भूलकर हैरान हो गया’ था; और अब भेदज्ञान होने पर ‘अपने को आप जानकर सुखधाम हो गया’—भेदज्ञान हुआ, वहाँ अज्ञान दूर हो गया और सुख का वेदन होने लगा—दोनों का काल एक ही है।

(७६) भेदज्ञान की कैसी महिमा है?

— आचार्यदेव ज्ञान की महिमा से कहते हैं कि—अहो! परपरिणति को छोड़ता और भेद के कथनों को तोड़ता जो यह प्रत्यक्ष स्व-संवेदनरूप भेदज्ञान उदय को प्राप्त हुआ है, उस ज्ञान में अब विभाव के साथ की कर्ता-कर्मप्रवृत्ति का अवकाश ही नहीं है और उसे बंधन भी नहीं है। देखो, यह ज्ञान! परभावों से छूटा... अहा, छुटकारे के मार्ग पर पहुँचे हुए इस ज्ञान को बंधन कैसे होगा? मति-श्रुत क्षायोपशमिक होने पर भी स्वसंवेदन की ओर ढले, वहाँ प्रत्यक्ष हैं और उस ज्ञान को बंधन नहीं है, उसमें विकार का कर्तृत्व नहीं है। चैतन्य के मध्य-बिन्दु से वह ज्ञान उछला है, उसे केवलज्ञान लेने में अब कोई रोक नहीं सकता।

(७७) पढ़ा होने पर भी अनपढ़ कौन है?

— जिसे उपयोगस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं है, वह जीव भले ही चाहे जितना पढ़ा हो, तथापि वह अनपढ़ है, पढ़ाई का किंचित् भी सार उसने प्राप्त नहीं किया है। पढ़ाई का सार यह है कि ज्ञानस्वरूप आत्मा का पर से भिन्न अनुभव करना।

(७८) अनपढ़ होने पर भी पढ़ा हुआ कौन है?

— जिसे निर्विकल्प आत्मा का अनुभव है, उस जीव ने भले कदाचित् शास्त्रों की पढ़ाई न की हो, बाह्यज्ञान भी अल्प हो, तथापि वास्तव में वह सब पढ़ा हुआ है, समस्त पढ़ाई का सार जो शुद्धात्मअनुभव, वह उसने प्राप्त कर लिया है।

(७८)हारा हुआ कौन है और जीता हुआ कौन है ?

— जिसने चिदानंदतत्त्व का अनुभव नहीं किया, मोक्ष साधने की रीति जो नहीं जानता, वह भले ही महान वक्ता हो या उसे अनेक शास्त्रों की धारणा हो, तथापि वह हारा हुआ है... अनुभवरहित मात्र धारणा कहीं शरणभूत नहीं होती, अकेली बाह्य धारणा से वह मोक्ष को नहीं जीत सकता ।

और जिसने चिदानंदतत्त्व के आनंद का अनुभव किया है, तथा मोक्ष को साध रहा है, उसे भले ही कदाचित् बोलना या पढ़ना भी न आता हो, अन्य धारणा भी अल्प हो, तथापि वह जीता हुआ है, वह अल्पकाल में मोह को जीतकर केवलज्ञान प्रगट करके तीन लोक का नाथ होगा ।

(७९)पुण्य का और धर्म का मार्ग का एक है या भिन्न-भिन्न ?

— पुण्य का और धर्म का एक मार्ग नहीं है परंतु दोनों के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं । पुण्य का मार्ग बहिर्मुख है और धर्म का मार्ग अंतर्मुख है; पुण्य का फल संसार है, धर्म का फल मोक्ष है ।

(८०)शास्त्र के अर्थ का निर्णय कौन कर सकता है ?

शास्त्र के शब्दों में तो कहीं ज्ञान है नहीं; ज्ञान तो आत्मा में है । जिसने आत्मोन्मुख होकर निर्मल ज्ञानदशा प्रगट की, वही शास्त्र के अर्थ का सच्चा निर्णय कर सकता है ।



भूल सुधार

‘ज्ञानचक्षु’ नामक गुजराती पुस्तक के पृष्ठ १५६ की चौथी पंक्ति में भूल से “पर्यायनुं लक्ष करीने”—ऐसा छपा है; उसके बदले “पर्यायनुं लक्ष गौण करीने”—ऐसा पढ़ें ।

परम शांतिदायिनी

अध्यात्म-भावना

[आत्मधर्म की सरल लेखमाला]

लेखांक ५२]

[अंक २९२ से आगे]

भगवान श्री पूज्यपादस्वामीरचित 'समाधिशतक' पर पूज्य स्वामीजी के अध्यात्मभावना भरपूर वैराग्यप्रेरक प्रवचनों का सार।

शरीर और आत्मा का संयोग देखकर, अज्ञानी जीव उन दोनों की क्रियाओं को एक-दूसरे में मिला देता है, दोनों के भिन्न लक्षणों को नहीं जानता; इसलिये दोनों की भिन्न क्रियाओं को नहीं पहचानता। यह बात ९१ वीं गाथा में कही है। अब ९२ वीं गाथा में कहते हैं कि—शरीर और आत्मा का संयोग होने पर भी, भेदज्ञानी अंतरात्मा उन्हें भिन्न जानता है और एक को दूसरे में नहीं मिलाता—

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पंगोरन्धे न योजयेत्।

तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ॥९२॥

जिसने दृष्टिवंत लंगड़े और दृष्टिहीन अंधे—उन दोनों के बीच भेद जाना है, अर्थात् देखने का कार्य लंगड़े का है और चलने का कार्य अंधे का है—ऐसी भिन्नता को जाना है; वह जीव, लंगड़े की दृष्टि, अंधे में आरोपित नहीं करता; उसीप्रकार जिसने चेतनवंत ऐसा जीव और चेतनहीन ऐसा जड़—शरीर दोनों के बीच भेद जाना है—जानने का कार्य तो जीव करता है, और शरीर की चेष्टायें तो जड़ की हैं—इसप्रकार दोनों का भिन्न-भिन्न स्वरूप जिसने जाना है, वह चेतन के भाव को जड़ में नहीं मिलाता, आत्मा को शरीर की क्रिया में नहीं जोड़ता, अर्थात् शरीर की क्रिया आत्मा करता है—ऐसा वह नहीं मानता; परंतु शरीर और आत्मा की क्रियाओं को भिन्न-भिन्न ही जानता है—ऐसी भिन्नता को जाननेवाला अन्तरात्मा है।

देखो, इन्द्रियों में कुछ भी जानने की शक्ति नहीं। किसी को जातिस्मरण होते ही ज्ञान में

अनेक भव दिखते हैं, तो क्या वे आँख से दिखाई देते हैं? नहीं; वे तो ज्ञान से ही जाने जाते हैं। अवधिज्ञानी को यहाँ बैठे-बैठे स्वर्ग-नरक साक्षात् दिखाई देते हैं, वह क्या आँख की शक्ति है? आँख तो एक ओर बाह्य में रह जाती है। सर्वज्ञ परमात्मा आँख के अवलंबन बिना आत्मा में ही एकाग्रता से सारे विश्व को देखते हैं—जानते हैं। जानना वह इन्द्रियों की क्रिया नहीं, जानना तो ज्ञान की क्रिया है;—इसप्रकार धर्मी दोनों को भिन्न-भिन्न पहिचानता है।

शरीर और आत्मा का संयोग होने पर, अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि शरीर के कार्य मानों आत्मा ही करता है; अथवा यह आँख आदि जड़ इन्द्रियाँ जानने का कार्य करती हैं, परंतु जड़ और चेतन की भिन्न-भिन्न क्रियाओं को वह नहीं पहिचानता। भाई, जानने का कार्य कहीं यह आँख नहीं करती, जानने का कार्य तो अंतर में जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वह करता है। धर्मी अंतरात्मा मानता है कि ज्ञातादृष्टा तो मैं हूँ, मेरा ज्ञान-दर्शन स्वभाव इस शरीर में नहीं; शरीर से तो मैं अत्यंत भिन्न हूँ। अपने ज्ञानस्वरूपी आत्मा को वह शरीरादि पदार्थों से अत्यंत भिन्न अनुभव करता है।



भाई, शरीर और आत्मा तो अत्यंत भिन्न हैं; संयोगरूप से साथ होने पर भी, दोनों के स्वभाव के बीच अत्यंत-अभावरूपी महान पर्वत खड़ा हुआ है। एक-दूसरे का अंश भी एक-दूसरे में नहीं मिलता। एक रूपी, दूसरा अरूपी; एक जड़, दूसरा चेतन; इसप्रकार दोनों के स्वभाव की अत्यंत भिन्नता को ज्ञानी जानता है। जहाँ अपने ज्ञान में राग के अंश को भी एकमेक नहीं करते, वहाँ ज्ञानी, जड़ को अपने में कैसे मिलायेंगे? शरीर और राग से अपने आत्मा को अत्यन्त भिन्न अनुभव करते हैं।

[वीर संवत् २४८२ श्रावण शुक्ला ९]

भेदज्ञानी जीव जड़-चेतन की भिन्नता को जानता है; और अज्ञानी उन दोनों को एक मानता है; वह बात यहाँ लंगड़े और अंधे के दृष्टांत से समझायी है। अंधे के कंधे पर लंगड़ा बैठा हो, और लंगड़ा मार्ग जाने तदनुसार अंधा चलता है—वहाँ अज्ञानी को भ्रम से उन दोनों की एक क्रिया लगती है, परंतु वास्तव में जानने की क्रिया लंगड़े की है, और चलने की क्रिया अंधे की है। उसीप्रकार शरीर और आत्मा एक क्षेत्र में रहे हुए हैं; वहाँ आत्मा की क्रिया तो जानने की है, और शरीर चले या स्थिर रहे वे सब क्रियायें शरीर की हैं। तथापि अज्ञानी भ्रम से शरीर की क्रियाओं को ही आत्मा की क्रिया मानता है, ज्ञानी तो दोनों की क्रियाओं को स्पष्ट भिन्न-भिन्न जानता है। यह जानने की क्रिया तो अपनी है, और यह शरीर की क्रियायें अपनी नहीं, परन्तु जड़ की हैं—ऐसा जाननेवाले भेदज्ञानी धर्मात्मा को शरीरादि में अपनेपन की कल्पना कभी नहीं होती। चेतनागुण तो आत्मा का है, वह कहीं शरीर का नहीं; शरीर तो चेतनारहित जड़ है—ऐसा जाननेवाला ज्ञानी अपनी ज्ञानक्रिया को शरीर में नहीं मिलाता। इन इन्द्रियों द्वारा मैं जानता हूँ—ऐसा नहीं मानता, तथा शरीर की क्रियायें अपने से होती हैं—ऐसा भी कभी नहीं मानता। शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न जानकर आत्मा में ही ज्ञान को मिलाता है—उसी में एकाग्र होता है।

जाननेवाला आत्मा अंतर में बैठा है, इसलिये आत्मा के कारण शरीरादि की हलन-चलन क्रियायें व्यवस्थित होती हैं—ऐसा नहीं है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, वह शरीरादि की क्रियाओं को भी जानता है परंतु उसकी क्रियाओं को करता नहीं है।

प्रश्नः—आत्मा न हो, तब शरीर की क्रिया क्यों नहीं होती ?

उत्तरः—आत्मा नहीं होता, तब शरीर स्थिर रहा हुआ है, वह भी उसकी एक क्रिया ही है, उस समय भी उसमें अनंत रजकण समय-समय आते हैं, और चले जाते हैं। जिसप्रकार गमन करना, वह एक क्रिया है; उसीप्रकार स्थिर रहना वह भी एक क्रिया है। आत्मा हो तब भी शरीर की क्रिया शरीर से होती है, और आत्मा न हो तो भी शरीर की क्रिया शरीर से ही होती है। आत्मा तो ज्ञानक्रिया का ही करनेवाला है। आत्मा हो और वाणी निकले, वहाँ वास्तव में आत्मा उस वाणी का जाननेवाला ही है, परंतु अज्ञानी भ्रम से ऐसा मानता है कि ‘मैं भाषा बोला’। ज्ञानी अपनी ज्ञानक्रिया के सिवा शरीरादि की किसी क्रिया को अपनी नहीं मानता; वह तो ज्ञानस्वभाव को ही अपना मानकर उसी में एकाग्र होता है।

अज्ञानी-बहिरात्मा की सब अवस्थायें भ्रमरूप हैं, और ज्ञानी अंतरात्मा की सर्व अवस्थायें भ्रमरहित ही हैं—ऐसा अब कहते हैं—

सुसोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम् ।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः ॥१३ ॥

बहिरात्मा को ऐसा प्रतीत होता है कि निद्रा या उन्मत्त अवस्था, वही भ्रमरूप है, जागृतदशा के समय उसे भ्रम नहीं लगता; परंतु ज्ञानी तो जानता है कि जो बहिरात्मा है, उसकी सब अवस्थायें भ्रमरूप हैं; वह चाहे पढ़ा-लिखा हो, चतुर हो, जागृत हो, तथापि अपने को शरीरादिरूप मानता हुआ वह भ्रम का ही सेवन कर रहा है, मोह से वह उन्मत्त ही है। जगत कहता है कि प्रवीण है, ज्ञानी कहते हैं कि पागल है। मैं चैतन्य हूँ—ऐसा जिसको अनुभव नहीं और शरीर को ही अपना मान रहा है, वह पागल ही है। तथा इससे विपरीत लें तो, ज्ञानी धर्मात्मा की सब अवस्थायें भ्रमरहित ही हैं। कदाचित् उन्मत्त जैसे दिखाई दे या निद्रा में हो, तथापि उस समय ज्ञानी की दशा भ्रमरूप नहीं, परंतु चैतन्यस्वरूप में वह जागृत ही है, शरीरादि में अपनेपन का भ्रम उसे नहीं होता। देखो, सीताजी का अपहरण होने से उनके वियोग में रामचन्द्रजी को मूर्छा आ जाती है, और वृक्षों तथा पर्वतों से भी पूछते हैं कि कहीं पर सीताजी को देखा है?—तो क्या उस समय वे पागल हैं? कि भ्रमरूप हैं?—नहीं; उस समय भी ज्ञानी हैं, अंतर में उस समय निःशंक अनुभव प्रवर्त रहा है कि हम तो चैतन्यस्वरूप आत्मा ही हैं; सीता या सीताजी के प्रति का राग वह हम नहीं। इसप्रकार ज्ञानी सर्व अवस्थाओं में भ्रमरहित हैं; आत्मा संबंधी भ्रांति उसको नहीं होती। और अज्ञानी, कदाचित् स्त्री आदि का मरण होने पर भी विलाप न करे, तथापि वह उन्मत्त तथा भ्रमरूप ही है। सत्-असत् को भिन्न जाने बिना, अर्थात् स्व-पर को भिन्न जाने बिना अज्ञानवश अपनी इच्छानुसार दोनों को एकमेक मानता है, ऐसे अज्ञानी का सब ज्ञान और चेष्टाएँ उन्मत्तवत् हैं; इसलिये मिथ्या हैं— ऐसा मोक्षशास्त्र में उमास्वामी ने भी कहा है।

राग और शरीर की सब अवस्थायें मेरी हैं—इसप्रकार अज्ञानी को अब अवस्थाओं में भ्रम प्रवर्तता है और ज्ञानी तो उन सब अवस्थाओं से अपने आत्मा को भिन्न जानता है, वह अपने आत्मा को ज्ञानानंदस्वरूप अनुभव करता है; इसलिये सर्व अवस्थाओं में वह भ्रमरहित ही है। सोते समय भी वह भ्रांतिरहित है तथा अज्ञानी जागृत अवस्था में भी भ्रांतिसहित है। शरीरादि

की अवस्था को जो अपनी मानता है, उसे ज्ञानी, पागल-उन्मत्त जानते हैं तथा ज्ञानी, लड़ाई आदि में हों, स्त्री के वियोग में मूर्च्छित हो जायें—वहाँ अज्ञानी को ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दशा भ्रमरूप है; परंतु नहीं; उससमय भी ज्ञानी चिदानंदस्वरूप में भ्रमरहित जागृत ही है। ज्ञानी की अंतरदशा को अज्ञानी नहीं पहिचानता। अंतरात्मा और बहिरात्मा की पहिचान बाह्यदृष्टि से नहीं होती। किसी अज्ञानी को रोगादि की प्रतिकूलता आने पर उसे चुपचाप सहन कर ले, तो वहाँ बाह्यदृष्टि को ऐसा लगता है कि यह बड़ा ज्ञानी है—परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि उनकी चेष्टा उन्मत्त जैसी है। तथा ज्ञानी को रोगादि के समय कभी वेदना की तीव्रता मालूम हो, वहाँ बाह्यदृष्टि जीवों को ऐसा लगता है कि यह अज्ञानी होगा। परंतु वेदना की तीव्रता के समय भी अंतर में ज्ञानस्वभाव पर ही ज्ञानी की दृष्टि है—ज्ञानस्वरूप में वे निर्भान्त हैं; उस दशा को अज्ञानी पहिचान नहीं सकते।

देखो, पण्डित बनारसीदासजी जब अंतिम स्थिति में थे, तब उनकी वाणी रुक गयी थी परंतु अभी प्राण नहीं निकलते थे; तब आसपास बैठे हुए लोगों को ऐसा प्रतीत हुआ कि उनका जीव किसी ममता में अटका हुआ है, इसलिये शरीर को नहीं छोड़ता, परंतु पण्डितजी तो मृत्युकाल निकट जानकर अपनी भावना में लीन थे। लोगों की मूर्खता देखकर उनका निराकरण करने के लिये उन्होंने संकेत से स्लेट-पेन मँगवाई और उस में लिखा कि—

“ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना;
प्रगट्यो रूप स्वरूप, अनंत सु सोहना।
जा परजैको अंत, सत्यकर मानना;
चले बनारसिदास, फेर नहीं आवना ॥”

देखो, यह ज्ञानी की जागृतदशा!! बाह्य से देखनेवालों को ऐसा लगता है कि यह मूर्च्छित हुए हैं, परंतु अंतर में उनका ज्ञान जागृत है, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं पड़ती। और अज्ञानी बाह्य में बड़ी-बड़ी बातें करता हो, रोग के समय धैर्य रखता हो, तथापि अंतर में भिन्न चैतन्य के वेदन बिना, राग में ही ज्ञान को एकाग्र करके मूर्च्छित हुआ है।

इसप्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की अंतरदशा में बड़ा अंतर है; बाह्य से उसका माप नहीं निकलता। चिदानंदस्वरूप की दृष्टि में ज्ञानी सदा सर्व अवस्थाओं में निःशंक वर्ता है; और अज्ञानी मूढ़ प्राणी, बहिरात्मदृष्टि से शरीरादि की अवस्था को अपनी मानकर सदा भ्रमरूप ही परिणमन करता है। अंतर में जो दृष्टि विद्यमान है, वह सर्व अवस्थाओं में अपना कार्य करती ही है।

रत्नत्रय की शुद्धि के लिये— दृढ़ वैराग्य भावना का उपदेश

असंख्य प्रदेशों में वैराग्य का सितार झनझनाकर
आत्मा की आराधना में दृढ़ रहना ।

भावप्राभृत गाथा ११० में परम वैराग्य का उपदेश देते हुए श्री कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि—हे जीव ! तूने संसार को असार जानकर स्वरूप की साधना के लिये जब वैराग्य से मुनिदीक्षा ग्रहण की थी, उस काल के तीव्र वैराग्य को उत्तमबोधि के निमित्त तू स्मरण कर... पुनः—पुनः उसकी भावना भा । विशुद्ध चित्त से अर्थात् सम्यग्दर्शनादि निर्मल परिणाम सहित होकर तू उत्कृष्ट वैराग्य की भावना कर । मुनिदीक्षा के समय समस्त संसार से उदास होकर स्वरूप में ही लीन रहने की कैसी उग्र भावना थी !—मानों अब कभी स्वरूप से बाहर आना ही नहीं है !—ऐसे उत्तम अवसर पर जो वैराग्यभावना जागृत हुई थी, उसे हे जीव ! तू पुनः—पुनः रत्नत्रय की विशुद्धि के हेतु भा ।

जिसने चिदानंदस्वभाव को ही सार जाना और संसार को असार माना, वह जीव चैतन्य की तीव्र भावना द्वारा भावशुद्धि (सम्यग्दर्शनादि) प्रगट करता है । चिदानंदस्वभाव पवित्र है, उसकी भावना से कषायें नष्ट होकर सम्यग्दर्शनादि पवित्र भाव प्रगट होते हैं । चैतन्य को साधने के लिये जो वैराग्यधारा उल्लसित हुई, अथवा रोग के काल में अथवा अन्य वैराग्य-प्रसंगों पर जो वैराग्य-भावना जागृत हुई अथवा मरण जैसा प्रसंग आ जाने पर जैसी वैराग्य भावना होती है—ऐसे वैराग्य को तू सदा-निरंतर ध्यान में रखकर बारंबार उसे भाना, उस वैराग्य भावना का बारंबार मंथन करना, वैराग्य को शिथिल मत होने देना । शुद्धभाव से आत्मा की जो भावना प्रारंभ की है, उसे जीवनपर्यंत निभाना । आराधक जीव को तीव्र रोगादि प्रतिकूल प्रसंगों पर वैराग्य की धारा विशेष उल्लसित होती है । प्रतिकूलता आये, वहाँ आर्थ्यान नहीं करता परंतु स्वभावोन्मुख होकर वैराग्य द्वारा शुद्धता की धारा को उल्लसित

करके रत्नत्रय की आराधना को पुष्ट करता है। यहाँ मुख्यतः मुनि को संबोधन किया है परंतु मुनि की भाँति श्रावक को भी वह उपदेश लागू होता है। हे जीव! सम्यग्दर्शन की आराधना प्रगट करके, संसार को असार जानकर; अंतर्मुख होकर सारभूत ऐसे चैतन्य की भावना भा। वैराग्य के अवसर पर जागृत हुई भावनाओं का स्मरण करके ऐसी भावशुद्धि कर कि जिससे तेरे रत्नत्रय की परम शुद्धता होकर केवलज्ञान की प्राप्ति हो। सार क्या और असार क्या? उसे जानकर तू सारभूत आत्मा की भावना कर।

दीक्षा-काल के उग्र वैराग्यप्रसंग का स्मरण कराके आचार्यदेव कहते हैं कि—अहा! दीक्षा के समय जगत से परम निस्पृह होकर शांत चैतन्यसमुद्र में लीन हो जाने की जो भावना थी, मानों चैतन्य के आनंद से कभी बाहर ही नहीं आऊँ—ऐसा जो वैराग्य का रंग था, उस विरक्तदशा की भावना को तू बनाये रखना। जिस संसार को छोड़ते समय लौटकर नहीं देखा, वैराग्यबल से क्षणमात्र में संसार को छोड़ दिया, तो अब आहारादि में कहीं राग मत करना, प्रतिकूलता के समूह में भी अपनी वैराग्यभावना में कहीं विघ्न मत करना। इसप्रकार जिसे आत्मा को साधना है, उसे समस्त संसार को असार जानकर परम वैराग्यभावना से सारभूत चैतन्यरत्न की भावना द्वारा सम्यग्दर्शनादि की शुद्धता प्रगट करना चाहिये। भाई! परभावों से विमुख होकर तू अपने चैतन्य की ओर उन्मुख हो... उसमें परम शांति है; उसमें प्रतिकूलता का अथवा परभाव का प्रवेश नहीं है। अपने असंख्य प्रदेशों में वैराग्य का सितार द्वन्द्वनाकर तू आत्मा की आराधना में ढूढ़ रहना। कोई महान प्रतिकूलता, अपयश आदि उपद्रवों के समय जागृत हुई उग्र वैराग्यभावना को अनुकूलता के समय भी मत भूलना और प्रतिकूलता के समूह से डरकर भी अपनी वैराग्यधारा को मत तोड़ना। अशुद्धभावों का सेवन करके अनंत काल संसारभ्रमण किया, इसलिये अब तो उन भावों को छोड़कर आत्मशुद्धि प्रगट कर।

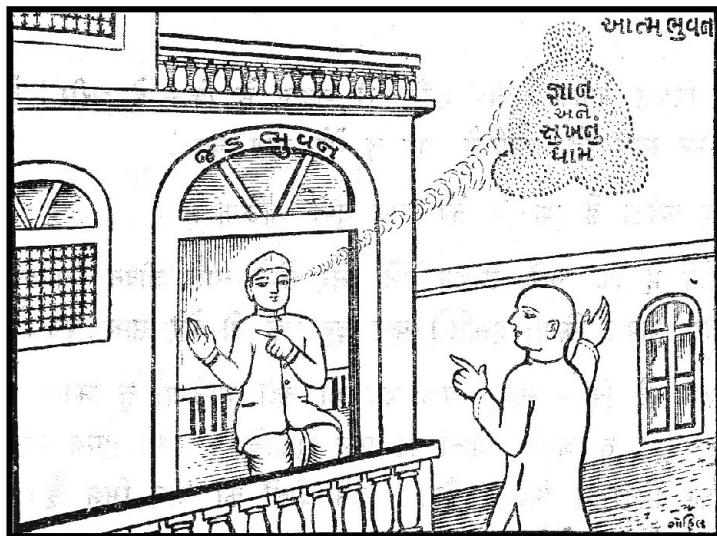
धर्मात्मा प्रतिकूलता से घिर नहीं आते, परिणाम बिगड़ने नहीं देते; परंतु ऐसे समय में उज्ज्वलभाव से वैराग्य की धारा उल्लसित करते हैं। प्रतिकूलता के समय आर्तध्यान न करे, परंतु पुरुषार्थ की प्रबलता से वैराग्य को बढ़ाकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उग्र आराधना द्वारा अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।—इसप्रकार प्रत्येक प्रसंग पर वैराग्य को पुष्ट करके आराधना का जोर बढ़ाकर रत्नत्रय की शुद्धतारूप भावशुद्धि का उपदेश है।●

सर्वज्ञपद की विभूति से भूषित चैतन्यमय निजगृह

★ ~~~~~ ★
 { { मृत्युकाल में जीव शरीर से कहता है—हे बंधु ! मेरे साथ चल ! तब शरीर कहता है कि—मैं तेरे साथ नहीं आऊँगा । } }

★ ~~~~~ ★
 हे जीव ! तू तो उत्कृष्ट चैतन्यरूपधारी है; तेरी सर्वज्ञपद की विभूति जगत में उत्कृष्ट है । अरे, तू शरीर में कहाँ मूर्धित हो गया ?... तू विज्ञानघन आनंदमूर्ति आत्मा मृतक कलेवर समान शरीर में क्यों मोहित हुआ है ? शरीर की अवस्था से तू अपने को सुखी-दुखी मानता है, वह महान असत्य-भूल है । मैं धनवान, मैं निधन—यह सब बाह्यबुद्धि है । शरीर भी तेरा नहीं है तो पुत्र-धनादि तेरे कहाँ से होंगे ? भाई, तू धनवान या निर्धन नहीं है, तू तो चैतन्यलक्ष्मी का भंडार है; आनंद का निधान है कि जिसकी प्रीति के बल से छह खंड की विभूति का मोह क्षणमात्र में छूट जाता है—ऐसी चैतन्यसम्पत्ति का भंडार तू है । इसलिये दीनता को छोड़ और अपनी चैतन्यलक्ष्मी को सँभाल ।

बाह्य पदार्थों का कार्य हम कर सकते हैं तथा उनसे मुझे लाभ-हानि है—ऐसी मान्यतावाले मिथ्यात्व का सेवन करते हैं, परंतु स्वतत्त्व की सँभाल नहीं करते । जड़ के संयोग से मैं धनवान अथवा मैं निर्धन—यह दोनों मान्यताएँ मिथ्या हैं । धन-पैसा तो पुद्गल की रचना है, वह कहीं जीव की रचना नहीं है; जीव की रचना तो ज्ञानमय होती है, जड़मय नहीं होती । असंगी चैतन्य को भूलकर परसंग को अपना मानकर जीव दुःखी होता है । अनेक जीव तो रूपये-पैसे को अपना मानकर तीव्र मोहवश उसी में जीवन गँवाते हैं; परंतु भाई, तेरा चैतन्यजीवन रूपये-पैसे से रहित चैतन्यमय है । तू कहता है कि बंगला मेरा, घर मेरा, परंतु वे तो चूने-मिट्टी के हैं; और तेरा घर तो चैतन्यमय है, चैतन्यगृह में ही तेरा निवास है । चैतन्यमय निजगृह को भूलकर पर घर में—पत्थर के बंगलों में या झोंपड़ी में जीव अपनेपन की वृद्धि



करता है और मोह से भटकता है। वीतरागी संत उसे असंख्यप्रदेशी आनंद का धाम ऐसा निजगृह बतलाते हैं कि भाई, तू निजगृह में कभी नहीं आया और चार गतिरूप पर घर में भटका... अब तो निजगृह में प्रवेश कर।

श्री पंडित दौलतरामजी ने कहा है कि:—

हम तो कबूँ न निजघर आये... हम तो०....

परपद निजपद मान मग्न है परपरिणति लिपटाये,

शुद्धबुद्ध सुखकंद मनोहर चेतनभाव न भाये... हम तो०

भाई, पत्थर का मकान या शरीर वह तो जड़ की रचना है; उस जड़-भवन में आत्मा का सच्चा निवास नहीं है। आत्मा का सच्चा निवासस्थान तो ज्ञान और सुख का धाम है; ऐसे आत्मभवन में हे जीव! तू प्रवेश कर।

पुराने जमाने में धनवान लोग बहुत-सी गायें-भैंसे रखते थे और उसे धन कहा जाता था; गाय-भैंस के बदले आजकल तो घर-घर में मोटरें और रेडियो आदि साधन हो गये हैं; परंतु वे गायें-भैंसें या मोटरें, रेडियो कुछ भी जीव के नहीं हैं; जीव व्यर्थ ही उनके पीछे जीवन गँवा रहा है। भाई, वे कोई तुझे शरणभूत होनेवाले नहीं हैं। राजपद और मंत्रीपद तो अनंत बार प्राप्त हुए, परंतु वे कोई तेरे पद नहीं हैं, वे तो अपद हैं और तेरा पद चैतन्यमय है। धन-शरीरादि तेरे हों तो वे तेरे साथ ही रहना चाहिये और परभव में भी साथ आना चाहिये; परंतु मृत्युकाल में

तो वे सब यहीं पड़े रहेंगे; उनके लिये तूने चाहे जितने पाप किये हों; परंतु वे एक कदम भी तेरे साथ आनेवाले नहीं हैं।

मृत्युकाल निकट जानकर जीव शरीर से कहता है कि—हे शरीर! हे मेरे बंधु! हम दोनों जीवनभर साथ रहे, इसलिये अब तू मेरे साथ चल!

तब शरीर कहता है कि—मैं तेरे साथ नहीं आऊँगा।

जीव कहता है कि—अरे, लेकिन मैंने तेरे लिये सारा जीवन गँवाया और अनेक पाप कर-करके तेरा पोषण किया; इसलिये कुछ दूर तक तो मेरे साथ चल!

शरीर कहता है कि—नहीं; एक डग भी नहीं आऊँगा; तू अपना रास्ता ले; मैं अपना रास्ता लेता हूँ... तू अपने भावों का फल भुगतने के लिये अन्य गति में अकेला जा, मैं राख होकर मिट्टी में मिल जाऊँगा।—हम दोनों की चाल भिन्न है। तूने भ्रम से मेरे साथ एकता मानी, वह तेरी भूल थी।

—जहाँ जीवनभर एकक्षेत्र में रहनेवाले शरीर की भी यह स्थिति है, वहाँ प्रत्यक्ष भिन्न ऐसे पुत्र-पुत्रादि की या धन-संपत्ति की क्या बात! वे तो जीवन में भी छोड़कर चले जाते हुए प्रत्यक्ष भिन्न दिखायी देते हैं; तथापि यह जीव व्यर्थ का मोह करके दुःखी होता है। मेरी पुत्री, मेरा पुत्र, मेरी माता, मेरी बहिन, मेरा भाई—ऐसी ममता करता है, परंतु भाई, यह कोई तेरे नहीं है, तेरा तो ज्ञान है; उस ज्ञान को अनुभव में ले!

आकाश और ज्ञान

❖ आकाश का अंत है?—नहीं है।

❖ आकाश ज्ञान में ज्ञात होता है?—होता है।

❖ आकाश 'अंतस्वभाववाला' नहीं है, परंतु उसमें 'ज्ञेयस्वभाव' तो है; इसलिये अंतरहित होने पर भी ज्ञान में वह अंतरहितरूप से (अनंतरूप से) ज्यों का त्यों ज्ञात होता है। क्योंकि—

❖ आकाश की अनंतता की अपेक्षा ज्ञानसामर्थ्य की अनंतता विशाल है।

❖ हे जीव! तू इतने विशाल ज्ञानस्वभाववाला है।



● पुण्यकर्म का पक्षपाती=अज्ञानी ●



★ ~~~~~ ★

पुण्य, वह बंध का कारण होने पर भी उसे जो मोक्ष का कारण मानता है, वह जीव पुण्यकर्म का पक्षपाती है; पुण्यकर्म के पक्षपात में उसे क्या दोष आता है ? वह आचार्यदेव (गाथा १५४ में) बतलाते हैं, और कहते हैं कि जिनागम का विधान तो ज्ञानस्वरूप आत्मा की अनुभूति करना है।

★ ~~~~~ ★

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह अबंध है और उसके आश्रय से परिणित होनेवाला जो ज्ञान, वही मोक्ष का कारण है, क्योंकि वह ज्ञान स्वयं बंधनरहित है; और उस ज्ञानपरिणाम के अतिरिक्त जो भी पराश्रित परिणमन है, वह सभी बंधस्वरूप है, तथा बंध का ही कारण है; इसलिये ज्ञानस्वभाव की अंतर अनुभूति करके ज्ञानरूप से परिणित होना, वही आगम का विधान है। सर्व आगम का सार क्या ? तो कहते हैं कि ज्ञानरूप परिणित होना; अंतर्मुख होकर जो ज्ञानभावरूप परिणित हुआ, उसने सर्व आगम का रहस्य जान लिया। और अनेक शास्त्र पढ़ने पर भी जो अंतर्मुख ज्ञानभावरूप परिणित नहीं हुआ—राग से भिन्न ज्ञान का अनुभव जिसने नहीं किया, उसका सर्व ज्ञातृत्व अज्ञान ही है। शास्त्रों की ओर के विकल्प से या शुद्धनय के विकल्प से मुझे किंचित् भी लाभ होगा—ऐसा जो मानता है, वह जीव उस विकल्प का ही पक्षपात करके, विकल्प के ही अनुभव में अटक जाता है; परंतु उससे दूर हटकर ज्ञान का अनुभव नहीं करता, इसलिये आगम के आदेश की उसे खबर नहीं है। आगम का आदेश तो राग से भिन्न चैतन्य का अनुभव करना है; उसके बदले अज्ञानी पुण्य के पक्ष में अटक गया है।

पापकर्म तो कुशील है—बुरा है, परंतु पुण्यकर्म तो सुशील है—अच्छा है, ऐसा अज्ञानी मानता है। आचर्यदेव कहते हैं कि अरे भाई ! पुण्य भी संसार में ही परिभ्रमण कराता है तो उसे सुशील कैसे कहा जायेगा ? पुण्य कहीं मोक्षमार्ग के आश्रित नहीं है, वह तो बंधमार्ग के ही आश्रित है। जीवस्वभाव के आश्रय से परिणित होनेवाले जो सम्यगदर्शन-ज्ञान-चारित्र, वही

मोक्ष का कारण है।—इसके अतिरिक्त पराश्रय से परिणमित होनेवाले रागादिभाव—फिर भले ही वे अशुभ हों या शुभ हों—संसार का ही कारण हैं। जो जीव उस राग की रुचि करता है, वह संसार में ही भटकता है। भेदज्ञान करके जो जीव राग से विरक्त होता है, वही कर्मबंधन से छूटता है। व्रतादि शुभभाव हैं, वे तो जीव के परमार्थस्वभाव से बाह्य हैं, वे व्रतादि के विकल्प न होने पर भी ज्ञानपरिणाम द्वारा ज्ञानी मोक्ष को साधते हैं और अज्ञानी को वे व्रतादि के शुभपरिणाम होने पर भी वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता; इसलिये ज्ञान ही मोक्ष का कारण है, और ज्ञानरूप परिणमित होना ही आगम का आदेश है।

इसप्रकार पुण्य, वह मोक्ष का कारण नहीं है परंतु बंध का ही कारण है—ऐसा आचार्यदेव ने समझाया; तथापि अभी भी जो जीव अज्ञान से पुण्यकर्म का पक्षपात करे, उसे क्या दोष आता है? वह पुनः समझाते हैं:—

परमद्वाबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छन्ति ।

संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणंता ॥१५४॥

जो परमार्थ से बाह्य हैं अर्थात् चिदानंदमूर्ति आत्मा के अनुभव से रहित हैं। वे मोक्ष के हेतु को नहीं जानते और अज्ञान से पुण्य को ही मोक्ष का कारण मानकर उसकी इच्छा करते हैं। यद्यपि पुण्य भी संसारगमन का ही हेतु है, तथापि अज्ञानी उसे मोक्ष का हेतु मानता है; वह ऐसा मानता है कि मैं मोक्ष के उपाय का सेवन करता हूँ, परंतु वास्तव में राग की रुचि से वह संसारमार्ग का ही सेवन कर रहा है। मोक्ष किसे कहना और उसका मार्ग क्या—उसकी उसे खबर भी नहीं है।

मोक्ष अर्थात् क्या?—कि समस्त कर्मपक्ष का नाश करने से जो शुद्धात्मा का लाभ होता है—निजस्वरूप की प्राप्ति होती है—वह मोक्ष है। पुण्यकर्म के भी नाश से मोक्ष होता है; पुण्य, वह भी कर्म के पक्ष में है; वह कहीं आत्मा के स्वभाव की वस्तु नहीं है।

ऐसे मोक्ष के कारणरूप सामायिक है। वह सामायिक कैसी है?—कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वभाववान परमार्थभूत ज्ञान का अनुभवन वह सामायिक है। दो घड़ी शरीर स्थिर रहे या अमुक पाठ कर ले तो उसे कहीं सामायिक नहीं कहते। अरे, सामायिक में तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का समावेश हो जाता है; मात्र ज्ञान के अनुभवनरूप ऐसी सामायिक, वह मोक्ष का कारण है। वह सामायिक चिदानंदस्वभाव में ही एकाग्रता है, और वह समयसार

—स्वरूप है अर्थात् शुद्धात्मा के अनुभवस्वरूप है। ऐसी सामायिक पुण्य-पाप के दुरंत कर्मचक्र से पार है। मात्र पाप-परिणाम से निवर्ते और अत्यंत स्थूल पुण्यकर्मों में वर्तता रहे तथा उसी के अनुभव से संतुष्ट होकर मोक्ष का कारण मान ले तो वह जीव नपुंसक है, राग से पार होने का पुरुषार्थ उसमें नहीं है। कर्म के अनुभव से हटकर ज्ञान के अनुभव में वह नहीं आता। हिंसादि स्थूल अशुभ परिणामों को बंध का कारण मानकर उन्हें तो छोड़ा, परंतु शुभपरिणामों को मोक्ष का कारण मानकर उनका सेवन कर रहा है, राग से भिन्न ज्ञान का अनुभवन नहीं करता, इसलिये वास्तव में अज्ञानभाव से वह संसार के कारण का ही सेवन कर रहा है, सेवन तो कर रहा है संसार के कारण का और मानता है कि मैं मोक्ष के कारण का सेवन कर रहा हूँ—वह संसार से कैसे छूटेगा? और मोक्ष कैसे प्राप्त करेगा?—मोक्ष के कारण को तो वह जानता ही नहीं। इसप्रकार पुण्यकर्म का पक्षपाती जीव कभी संसार से छूटकर मोक्ष प्राप्त नहीं करता।

वह अज्ञानी जीव यद्यपि संसार से भयभीत होकर मोक्ष की इच्छा तो करता है, परंतु अपने अभिप्राय में पुण्य को मोक्ष का साधन मानता है, इसलिये वास्तव में वह संसार के कारणरूप पुण्य की इच्छा रखने से, संसार के कारण का ही सेवन कर रहा है। ऐसे जीव मोक्ष की इच्छा रखते हैं, परंतु उसके कारण को नहीं जानते; और संसार की इच्छा नहीं रखते, परंतु उसके कारण का ही सेवन कर रहे हैं। अज्ञानी जीव स्थूल लक्षवाले हैं, सूक्ष्म ऐसा चैतन्यस्वभाव उनके लक्ष में नहीं आया है और स्थूल शुभपरिणामों में ही संतुष्ट हैं, शुभपरिणाम से कर्म की किंचित् मंदता हुई, वहाँ मानते हैं कि हमें मोक्षमार्ग मिल गया; परंतु भाई! मंद कर्म भी कर्म की ही जाति है, मोक्षमार्ग तो उससे बिल्कुल ही भिन्न जाति का है। जो मंद कर्म में संतुष्ट हुआ, वह कर्म में ही अटका है; कर्म को मूल से नहीं उखाड़ता। कर्म की मंदता भले ही करे परंतु कर्म की जड़ तो ज्यों की त्यों रखता है, चैतन्य की मुक्ति का मूल उसके हाथ में नहीं आया है।

कर्म की तीव्रता में से मंदता हुई—पाप में से पुण्य हुआ—परंतु चक्र तो कर्म का ही रहा। चैतन्य का और राग का अत्यंत भेदज्ञान करना चाहिये, शुभ विकल्प का एक कण भी मुझे चैतन्यसाधन में किंचित् सहायक नहीं है, मेरा चैतन्यतत्त्व शुभ विकल्पों से भी पार है—इसप्रकार अत्यंत भिन्नता जानकर समस्त कर्मकांड को जड़ से उखाड़ दे और कर्म से भिन्न ऐसे ज्ञानकांड का अनुभव करे तो चैतन्य के आश्रय से मोक्ष का साधन हो। जब तक अभिप्राय

में अंशमात्र शुभराग का अवलंबन रहे, तब तक संसारवृक्ष की जड़ ज्यों की त्यों रहती है। पाप छोड़कर अज्ञानपूर्वक ब्रत-तप-दया-दान-शील-पूजादि शुभभाव जीव अनंत काल में अनंत बार कर चुका है, परंतु उससे भवभ्रमण का अंत नहीं आया; राग के आश्रय की बुद्धि नहीं छूटी इसलिये संसार में ही परिभ्रमण किया। राग मात्र (भले ही शुभ हो, तथापि) बंध का ही कारण है, तथापि अज्ञानी उसे बंध का कारण न मानकर मोक्षकारण के रूप में उसका सेवन करता है। शास्त्रकार कहते हैं कि— अरे भाई ! एक क्षणिक पुण्यवृत्ति के लिये तू संपूर्ण मोक्षमार्ग को बेच रहा है ! जिसप्रकार कोई मूर्ख थोड़ी सी राख के लिये चंदन के वन को जला दे; मट्टे के लिये रत्न को बेच दे; डोरे के लिये कोई मोतियों का हार तोड़ डाले; उसीप्रकार क्षणिक पुण्य की मिठास के मोह में पड़कर तू पूर्ण चिदानंद तत्त्व का आश्रय छोड़ रहा है और संसार-मार्ग का आदर कर रहा है—तो तेरी मूर्खता को क्या कहा जाये ! भाई, मोक्ष की इच्छा से जब तूने दीक्षा ग्रहण की, तब शुद्धात्मा के अनुभवरूप सामायिक की प्रतिज्ञा की थी, परंतु तू तो शुभराग के ही अनुभव में अटक गया, राग से भिन्न चैतन्य की तूने श्रद्धा भी नहीं की; मोक्ष के साधनरूप सच्ची सामायिक को तूने जाना ही नहीं। चिदानंदस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-अनुभवरूप सामायिक, वह मोक्ष का कारण है— ऐसा अनुभव जो नहीं करते और राग के ही अनुभव को मोक्ष का साधन मानकर उसमें अटक जाते हैं, वे कर्मचक्र से बाहर निकलने में पुरुषार्थहीन हैं; चैतन्यस्वभाव का पुरुषार्थ उनके जागृत नहीं हुआ है। व्यवहार से भी अरिहंत भगवान के मार्ग को ही मानते हैं, अन्य कुमार्ग का सेवन नहीं करते, भगवान के कहे हुए उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तु को तथा नवतत्त्व आदि को व्यवहार से बराबर मानते हैं, परंतु अंतर में राग और चैतन्य की भिन्नता का वेदन नहीं करते, स्थूल लक्षरूप से शुभराग में ही अटक जाते हैं— ऐसे जीव शुभराग को मोक्ष का कारण मान रहे हैं; इसलिये पुण्य के राग का ही आश्रय करते हुए वे संसार में ही भटकते हैं। इसप्रकार पुण्यकर्म के पक्षपाती जीव संसार में ही भटकते हैं, वे मोक्ष प्राप्त नहीं करते। मोक्ष की प्राप्ति तो ज्ञान द्वारा ही होती है, पुण्य द्वारा नहीं होती।

ज्ञानस्वभाव का आश्रय करके ज्ञानरूप से परिणित होना ही मोक्ष का कारण है। जो अंतमुख होकर ज्ञानस्वभाव का आश्रय करते हैं, वे ही मुक्ति प्राप्त करते हैं; इसलिये ज्ञानस्वभाव का आश्रय करके ज्ञानरूप परिणित होना— ऐसा आगम का आदेश है।



ज्ञानी पुण्य की इच्छा नहीं करता

अज्ञानी चैतन्य को भूलकर राग की धुन में लग गया है और ज्ञानी चैतन्य की धुन में राग को चाहते ही नहीं; शुद्धात्मा की सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-अनुभवनरूप जो मोक्षमार्ग है, उसी का ज्ञानी सेवन करते हैं; पुण्य को मोक्ष का साधन किंचित् नहीं मानते। जिसे पुण्य की रुचि है, उसे मोक्ष की रुचि नहीं है; मोक्ष तो आत्मा की पूर्ण शुद्धता है, तो उसका साधन भी शुद्धतारूप ही होगा। राग तो अशुद्धता है, तो अशुद्धता, वह शुद्धता का साधन कैसे हो सकता है?—नहीं हो सकता।

श्रीमद् राजचंद्रजी कहते हैं कि:—

**मोक्ष कहा निज शुद्धता, वह पाये सो पंथ;
समझाया संक्षेप में सकल मार्ग निर्णय।**

आचार्य भगवान कहते हैं कि आत्मस्वभाव के आश्रय होनेवाले जो श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र, वही परमार्थ मोक्षमार्ग है; उसके सिवा बहिर्मुख वृत्तिरूप व्रत-तपादि शुभकर्म को कितने ही लोग मोक्षहेतु—मोक्ष का साधन मानते हैं, उस सबका वहाँ निषेध किया गया है; राग, वह मोक्ष का हेतु हो—इस बात का जिनभगवान के मार्ग में निषेध किया गया है। जो राग को मोक्ष का साधन मानता है, उसे किंचित् भी मोक्षमार्ग नहीं होता, वह तो राग में ही तन्मय वर्तता हुआ अज्ञानभाव से संसार में ही परिभ्रमण करता है। पुण्य-पाप से पार चैतन्य का निर्विकल्प अनुभव चतुर्थ गुणस्थान में गृहस्थ को भी होता है, और ऐसा अनुभव करे, तभी मोक्ष साधन का प्रांरभ होता है।

व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं सधता; मोक्षमार्ग तो परमार्थस्वभाव के आश्रय से ही सधता है। परमार्थरूप ऐसे ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही सम्यगदर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रवर्तता है, इसलिये जो परमार्थस्वभाव का आश्रय करते हैं, वे ही मुक्ति को प्राप्त करते हैं। जो निश्चय के विषय को छोड़कर व्यवहार के आश्रय से प्रवर्तते हैं, व्यवहार के आश्रय से लाभ होना मानते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त नहीं होते, परंतु संसार में ही भटकते हैं। व्रत-तपादि शुभकर्म कैसे हैं? कि परमार्थ-मोक्षहेतु से दूर हैं अर्थात् बंध के ही हेतु हैं; तथापि अज्ञानी उसे मोक्षहेतु मानते हैं, उस मान्यता का सर्वथा निषेध किया गया है। अज्ञानी के माने हुए शुभकर्मरूप मोक्षहेतु का सर्वथा निषेध किया गया है, अर्थात् शुभकर्म द्वारा मोक्षमार्ग किंचित्

नहीं होता—ऐसा प्रतिपादन किया गया है। भले ही विद्वान हो या शास्त्र पढ़ा हो, परंतु यदि शुभराग के आश्रय से किंचित् भी मोक्षमार्ग होना माने तो वह भगवान के मार्ग से भ्रष्ट है, भगवान के कहे हुए शास्त्र के रहस्य को वह नहीं जानता; वास्तव में वह विद्वान नहीं परंतु मूढ़ है। अरे भाई! तू शास्त्र में से क्या पढ़ा? मोक्ष का मार्ग तो आत्मा के आश्रित होता है या राग के आश्रित? व्यवहार अर्थात् पर का आश्रय; पर के आश्रय से मोक्षमार्ग कैसे होगा? भाई, तू पराश्रय की बुद्धि छोड़कर स्वतत्त्व की ओर उन्मुख नहीं हुआ तो तेरी विद्वत्ता किस काम की? और तेरी शास्त्र-पढ़ाई भी किस काम की? विद्वत्ता तो उसे कहते हैं कि जिसके द्वारा स्वाश्रय करके अपना हित साधे। स्वाश्रयपूर्वक वीतरागभाव प्रगट करना ही शास्त्र का उपदेश है। आत्मा के मोक्ष का कारण आत्मा के स्वभाव से पृथक् नहीं होता। आत्मा ज्ञानस्वभावी है और राग तो उससे भिन्न वस्तु है; उस राग द्वारा मोक्षमार्ग का परिणमन नहीं होता। पुण्यभाव भी बंध का ही कारण है, मोक्ष का नहीं।

पुण्य को कहीं तो रखिये?

— जरूर रखा है।

— कहाँ रखा?

उसे पूरे का पूरा बंधमार्ग में रखा है।

मोक्षमार्ग पुण्याश्रित नहीं है, वह तो ज्ञानस्वभाव के ही आश्रय से होता है। आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे पंडितों! यदि तुम व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग मानते हो तो भगवान के आगम में ऐसा नहीं कहा है। भगवान ने तो परमार्थस्वभाव के आश्रय से ही मोक्षमार्ग कहा है और व्यवहार के आश्रय का फल तो संसार ही कहा है।

करना है आत्मा का मोक्ष और आश्रय लेना आत्मा से विरुद्ध ऐसे राग का!—उसमें विद्वत्ता नहीं है परंतु विपरीतता है। चैतन्यभाव एवं रागभाव के बीच भेदज्ञान करके, चैतन्य का आश्रय करना और राग का आश्रय छोड़ना वही सच्ची विद्वत्ता है और वह एक ही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है। ऐसे ज्ञानमय मोक्षमार्ग का तुम सेवन करो और पुण्य को छोड़ो।



सुख अर्थात् आत्मा; रूपयों से सुख नहीं मिलता

- (१) अनंत रूपये किसी के पास नहीं हो सकते, परंतु अनंत गुण प्रत्येक जीव के पास हैं; क्योंकि स्थूल रूपये तो समस्त लोक में असंख्य ही समा सकते हैं, अनंत रूपये लोक में नहीं समा सकते। अनंत गुण तो प्रत्येक जीव में सदा विद्यमान हैं।
- (२) इसलिये हे जीव ! ऐसे अपने निजगुणनिधान को तू सँभाल !—रूपये के बिना ही उसमें परम सुख भरा है।
- (३) अपने निजवैभव की सँभाल में तुझे ऐसा सुख होगा कि जिसमें रूपये की आवश्यकता ही नहीं होगी।
- (४) अपने सहज सुख को छोड़कर बिकता सुख लेने जाना, वह मूर्खता है।
- (५) जिसप्रकार ज्ञान बाजार में बिकता नहीं मिलता, उसीप्रकार सुख भी बाजार में पैसे से नहीं मिलता।
- (६) ज्ञान की भाँति सुखगुण आत्मा का है, जड़ का नहीं।
- (७) जड़ में सुख मानने से चेतन के सच्चे सुख का विस्मरण होता है।
- (८) जड़ में सुख की खोज कौन करता है ? जो दुःखी हो, अथवा जो अपने में सुख नहीं देखता, वह जड़ में सुख ढूँढ़ता है। जिसने अपने में सुख देख लिया, वह पर में सुख की खोज नहीं करता।
- (९) सुख, वह आत्मा है और आत्मा के अनुभव से ही सुख प्रगट होता है।
- (१०) सिद्ध भगवंतों को परम उत्कृष्ट सुख है; वह सुख किसका है ?—तो कहते हैं कि अपने आत्मस्वभाव का ही वह सुख है।



सामायिक

- * एक समय की सामायिक में कितनी शक्ति है ?
 - अल्प काल में मोक्ष देने की शक्ति है।
 - * सामायिक का अर्थ क्या ?
 - पुण्य-पाप रहित ज्ञान का अनुभव, वह सामायिक है।
 - * शुभराग, वह सामायिक है ?
 - नहीं; सामायिक तो वीतरागभाव है।
 - * पुण्य को मोक्ष का साधन माने, उसको सामायिक होती है ?
 - नहीं होती।
 - * सामायिक में क्या लाभ होता है ?
 - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मा का लाभ होता है।
 - * पुण्य को मोक्षमार्ग माननेवाले जीव कैसे हैं ?
 - वे स्थूल लक्षवाले हैं; सूक्ष्म ऐसे चैतन्य का लक्ष उन्हें नहीं है।
 - * संसार से भयभीत होकर मोक्ष चाहता हो, उसे क्या करना ?
 - उसे सामायिक करना चाहिये।
 - * सामायिक किसप्रकार होती है ?
 - पुण्य-पाप, राग-द्वेष से पार ऐसे ज्ञान के अनुभव द्वारा सामायिक होती है।
- ज्ञानस्वरूप आत्मा को जाने बिना सामायिक नहीं हो सकती।
- * अज्ञानी ने पहले कभी सामायिक की होगी ?
 - नहीं की।
 - * आत्मा की पहचान बिना भी अनेक जीव सामायिक तो करते हैं ?
 - वह सामायिक सच्ची नहीं है। शरीर को स्थिरता अथवा पाप छोड़कर पुण्य का भाव, उसे भगवान ने सामायिक नहीं कहा; शरीर से भिन्न तथा पुण्य से पार ऐसे वीतरागी ज्ञान का अनुभव, वह सामायिक है और वह मोक्ष का कारण है।—ऐसी सामायिक आत्मा के ज्ञानपूर्वक ही होती है।
 - हे मोक्षार्थी जीवो ! मोक्ष के लिये तुम ऐसी सामायिक करो !

सम्यक्त्व की सरस बात

सम्यगदर्शन का प्रयत्न समझाते हैं और
शुद्ध के विकल्प से भी आगे लिये जाते हैं।

श्री समयसार की १४४वीं गाथा अर्थात् सम्यगदर्शन का मंत्र... मुमुक्षु को अत्यंत प्रिय ऐसी यह गाथा आत्मा का अनुभव करने की रीति बतलाती है। उसके प्रवचनों का दोहन यहाँ प्रश्नोत्तर शैली में दिया है। पुनः-पुनः उसके भावों का मनन मुमुक्षु जीव को चैतन्यगुफा में ले जायेगा।

- * प्रश्नः—सम्यगदर्शन के लिये मुमुक्षु को प्रथम क्या करना चाहिये ?
उत्तरः—मैं ज्ञानस्वभाव हूँ—ऐसा निर्णय करना चाहिये।
- * वह निर्णय किसके अवलंबन से होता है ?
— श्रुतज्ञान के अवलंबन से वह निर्णय होता है।
- * ऐसा निर्णय करनेवाले का जोर कहाँ है ?
— ऐसा निर्णय करनेवाला यद्यपि अभी सविकल्पदशा में है परंतु उसका जोर विकल्प पर नहीं है, ज्ञानस्वभाव की ओर ही उसका झुकाव है।
- * आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि कब होती है ?
— आत्मनिर्णय के बल से निर्विकल्प होकर साक्षात् अनुभव करे तब।
- * ऐसे अनुभव के लिये मतिज्ञान ने क्या किया ?
— वह पर से विमुख होकर आत्मसन्मुख हुआ।
- * श्रुतज्ञान ने क्या किया ?
— पहले जो नयपक्ष के विकल्पों की आकुलता होती थी, उससे भिन्न होकर वह श्रुतज्ञान भी आत्मसन्मुख हुआ; ऐसा करने से निर्विकल्प अनुभूति हुई, परमानंद सहित सम्यगदर्शन हुआ, भगवान प्रगट हुआ; उसे धर्म हुआ और वह मोक्ष के मार्ग पर चला।
- * आत्मा कैसा है ?
— आत्मा ज्ञानस्वभाव ही है; 'ज्ञानस्वभाव' में रागादि नहीं आते, ज्ञानस्वभाव में

इन्द्रिय या मन का अवलंबन नहीं आता; इसलिये 'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ'—ऐसा निर्णय जहाँ हुआ, वहाँ श्रुत का झुकाव इन्द्रियाँ, मन तथा राग से पराइमुख होकर ज्ञान-स्वभावोन्मुख हुआ। इसप्रकार ज्ञानस्वभावोन्मुख होने से जो प्रत्यक्ष साक्षात् निर्विकल्प अनुभव हुआ, वही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है, वही भगवान् आत्मा का प्रकाशन है। यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, वे आत्मा की पर्यायें हैं, वे आत्मा से पृथक् नहीं होती।

* क्या ज्ञानस्वभाव के निर्णय द्वारा अनुभव होता है ?

— हाँ ज्ञानस्वभाव का सच्चा निर्णय जीव ने कभी नहीं किया। ज्ञान के बल से (विकल्प के बल से नहीं) सच्चा निर्णय करे तो अनुभव हुए बिना नहीं रहता। जिसके फल में अनुभव न हो, वह निर्णय सच्चा नहीं है। विकल्पों के काल में मुमुक्षु का जोर उन विकल्पों पर नहीं है परंतु 'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ'—ऐसा निर्णय करने पर ही जोर है, और ऐसे जोर से आगे बढ़कर ज्ञान को अंतर्मुख करके अनुभव करने से विकल्प छूट जाते हैं, ज्ञान का ज्ञानरूप परिणमन होता है। उसे आनंद कहो, सम्यग्दर्शन कहो, मोक्षमार्ग कहो, समय का सार कहो—सब का समावेश उसमें हो जाता है।

* आत्मा का रस कैसा है ?

— आत्मा का रस मात्र विज्ञानरूप है; धर्मी जीव विज्ञानरस के ही रसिक हैं; राग का रस, वह आत्मा का रस नहीं है; जिसे राग का रस हो, उसे आत्मा के विज्ञानरस का स्वाद अनुभव में नहीं आता। राग से भिन्न ऐसे वीतरागविज्ञानरसरूप आत्मा का स्वाद आया, तभी सम्यग्दर्शन है। विज्ञानरस कहो या अतीन्द्रिय आनंद कहो, सम्यग्दर्शन में उसी के स्वाद का अनुभव होता है।

* 'मैं शुद्ध हूँ'—ऐसे शुद्धनय के विकल्प में अटक जाना, वह क्या है ?

— वह मिथ्यादृष्टि का नयपक्ष है। सम्यग्दर्शन तो उस नयपक्ष से पार है। विकल्प की आकुलता के अनुभव में शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं है; सम्यग्दर्शन में शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प अनुभव है। शुद्ध आत्मा का अनुभव करना, वह अंतर्मुख भावश्रुत का कार्य है, वह कोई विकल्प का कार्य नहीं है। विकल्प में आनंद नहीं है, उसमें तो आकुलता और दुःख है; भावश्रुत में आनंद एवं निराकुलता है।

* अन्य विकल्पों की अपेक्षा तो शुद्धात्मा का विकल्प अच्छा है न ?

— धर्म के लिये तो एक भी विकल्प अच्छा नहीं है, विकल्प की जाति ही आत्मा के स्वभाव से भिन्न है, फिर उसे अच्छा कौन कहेगा ? जिसप्रकार अन्य विषयों में एकताबुद्धि, वह मिथ्यात्व है; उसीप्रकार शुद्धात्मा के विकल्प में एकताबुद्धि, वह भी मिथ्यात्व है। सर्व विकल्पों से पार ज्ञानस्वभाव को देखना-जानना-अनुभवना, वह सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है; वही समय का सार है; विकल्प तो सब असार हैं। भले ही शुद्ध का विकल्प हो, परंतु उसे कहीं सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता; उस विकल्प द्वारा भगवान की भेंट नहीं हो सकती। विकल्प, वह कोई चैतन्यदरबार में प्रविष्ट होने का द्वार नहीं है। ज्ञानबल से 'ज्ञानस्वभाव का निर्णय' वही चैतन्यदरबार में प्रविष्ट होने का द्वार है।

* ज्ञान की प्राप्ति कहाँ से होती है ?

— ज्ञान की प्राप्ति सर्वज्ञस्वभावी आत्मा में से होती है; ज्ञान की प्राप्ति विकल्प में से नहीं होती। भीतर शक्तिरूप से जो विद्यमान है, वही बाहर आता है, बाह्य से कुछ नहीं आता। अंतर की निर्मलज्ञानशक्ति में अभेद होने से पर्याय सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानरूप परिणित हो जाती है।

* सम्यग्दर्शन की पहली शर्त क्या ?

— पहली शर्त यह है कि—'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ'—ऐसा श्रुत के अवलंबन से निर्णय करना चाहिये। सर्वज्ञभगवान ने समवसरण में दिव्यध्वनि द्वारा जो भावश्रुत का उपदेश दिया, तदनुसार श्रीगुरु के निकट श्रवण करके अंतर में भावश्रुत द्वारा ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना। भगवान ने श्रुत में ऐसा ही कहा है कि ज्ञानस्वभाव, वह शुद्धात्मा है। ऐसा निर्णय करके गौतमादि जीव भावश्रुतरूप परिणित हुए, इसलिये 'भगवान ने भावश्रुत का उपदेश दिया'—ऐसा कहा है। भगवान को तो केवलज्ञान है; परंतु श्रोता भावश्रुतवाले हैं, इसलिये भगवान ने भावश्रुत का उपदेश दिया, ऐसा कहा जाता है। सर्वज्ञभगवान द्वारा उपदेशित श्रुत में ऐसा निर्णय कराया है कि 'आत्मा ज्ञानस्वभाव है' ऐसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना, वह सम्यग्दर्शन की पहली शर्त है।

* आत्मा का निर्णय करने के पश्चात् अनुभव के लिये क्या करना ?

— आत्मा अर्थात् ज्ञान का समूह; ज्ञानपुंज; वह ज्ञानस्वरूप आत्मा रागयुक्त नहीं है, कर्मयुक्त नहीं है, शरीरयुक्त नहीं है; वह पर का करे यह बात ही नहीं है।—ऐसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया, वहाँ 'अब मुझे क्या करना'—यह प्रश्न ही नहीं रहता; परंतु जिस स्वभाव का निर्णय किया, उस स्वभाव की ओर उसका ज्ञान ढलता है। निर्णय की भूमिका में यद्यपि अभी विकल्प है, अभी भगवान आत्मा का प्रगट अनुभव नहीं हुआ है; अव्यक्तरूप से निर्णय में आया है परंतु साक्षात् अनुभव में नहीं आया; उसे अनुभव में लेने के लिये क्या करना?—तो कहते हैं कि निर्णय के साथ जो विकल्प है, उस विकल्प में नहीं रुकना, परंतु विकल्प से भिन्न ज्ञान को अंतर्मुख करके आत्मोन्मुख होना चाहिये। विकल्प, वह कोई साधन नहीं है। विकल्प द्वारा पर की प्रसिद्धि है, उसमें आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है। इन्द्रियों द्वारा विकल्पों की ओर अटका हुआ ज्ञान भी आत्मा को प्रसिद्ध नहीं कर सकता—अनुभव में नहीं ले सकता; परंतु उस परोन्मुखता को छोड़कर ज्ञान को आत्मोन्मुख करना, वही आत्मा की प्रसिद्धि का उपाय है, वही अनुभव का मार्ग है।

'यह मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ'—ऐसा ज्ञान इन्द्रियों या मन के ओर की बुद्धि द्वारा नहीं होता, इन्द्रियों या मन के ओर की बुद्धि द्वारा तो पर का ज्ञान होता है। समस्त विकल्पों से पार होकर आत्मस्वभाव की ओर ज्ञान की उन्मुखता ही सम्यकरूप से आत्मा को देखने की—अनुभवने की रीति है; उसमें स्वसंवेदन-प्रत्यक्षरूप से आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान होते हैं।

* सम्पर्कदर्शन होने से आत्मा समस्त विश्व पर तैरता है—यहाँ तैरने का क्या अर्थ है?

— तैरता है अर्थात् विश्व से पृथक् रहकर जानता है। जिसप्रकार पानी में तैरनेवाला मनुष्य डूबता नहीं है परंतु ऊपर रहता है, उसीप्रकार अपने को ज्ञानस्वभावरूप अनुभव करनेवाला आत्मा विकल्पों में नहीं डूबता, विकल्पों में एकाकार नहीं होता, परंतु उनके ऊपर तैरता है अर्थात् उनसे भिन्नरूप ही अपने को अनुभवनता है; उसमें आत्मा की किसी परम अचिंत्य गंभीरता का अनुभव होता है।

* सम्प्रकृत्व के प्रयत्न का प्रारंभ कैसा है?

— अपूर्व है; क्योंकि वह प्रारंभ पूर्णता के लक्ष से है। 'ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय'

अर्थात् पूर्णता का लक्ष; और पूर्णता के लक्ष से प्रारंभ, वही सच्चा प्रारंभ है। स्वभाव के निर्णय के काल में 'ज्ञान का' अवलंबन है; विकल्प होने पर भी उसका अवलंबन नहीं है। विकल्प के द्वारा सच्चा निर्णय नहीं होता; ज्ञान द्वारा ही निर्णय होता है। ज्ञान स्वयं ज्ञानरूप हो और विकल्परूप न हो अर्थात् आत्मसन्मुख हो, वह सम्यगदर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की रीति है। ज्ञान स्वयं ज्ञानरूप होकर आत्मा का अनुभव करता है।

पूज्य श्री कानजीस्वामी प्रवचन में अत्यंत महिमापूर्वक कहते हैं कि—अहा! आचार्यदेव ने अनुभवदशा का अचिंत्यस्वरूप समझाया है। ऐसे अनुभव में आनंद की परिणति खिलती है। स्वानुभव में ज्ञान भी अतीन्द्रिय है और आनंद भी अतीन्द्रिय हैं।

हे जीवो! तुम आत्मसन्मुख होकर ऐसा अनुभव करो!

[इसी गाथा का दूसरा प्रवचन आगामी अंक में दिया जायेगा।]



सुवर्णपुरी (सोनगढ़) समाचार (तारीख ९-९-६९)

— परम उपकारी पूज्य स्वामीजी सुखशांति में विराजमान हैं।
 — दैनिक प्रवचनों में—सबेरे श्री समयसारजी शास्त्र पुण्य-पाप अधिकार पर प्रवचन होते थे, जो पूर्ण होकर आस्त्रव अधिकार प्रारंभ हुआ है। दोपहर को श्री प्रवचनसार गाथा १७२ में अलिंगग्रहण के २० बोलों पर प्रवचन पूर्ण हुए हैं और अब गाथा १९२-१९३ चल रही है। प्रौढ़ शिक्षण शिविर में दूर-दूर से अनेक लोग आये थे और सभी कार्यक्रम बड़े उत्साहपूर्वक संपन्न हुए थे।

— भाद्रपद शुक्ला दूज को यहाँ परमागम मंदिर का शिलान्यास होने जा रहा है; जिसकी दीवारों पर श्री समयसारादि पाँच परमागमों की गाथाएँ संगमरम्पर में अंकित की जायेंगी। परमागम मंदिर की शिलान्यास-विधि मोम्बासा (अफ्रीका) निवासी श्री सेठ भगवानजी कचराभाई के शुभहस्त से सम्पन्न होगी।

धार्मिक शिक्षण-शिविर

समाचार

इंदौर:—यहाँ तारीख ३०-५-६९ से २१ दिन तक जैन शिक्षण शिविर का कार्यक्रम अपूर्व उल्लास से संपन्न हुआ; जिसमें अनेक सुशिक्षित जैन स्त्री-पुरुषों ने तथा छात्र-छात्राओं ने भाग लिया। नगर में कुछ अप्रिय घटनाएँ हो जाने के कारण ८ दिन का कर्फ्यू था, परंतु कर्फ्यू के दिनों में भी लोग बड़ी संख्या में शिक्षण और प्रवचन हेतु शहर के कोने-कोने से मल्हारगंज रामाशाहजी के मंदिर में दौड़े चले आते थे। कार्यक्रम में करीब १६०० स्त्री-पुरुषों ने बड़ी रुचि से भाग लिया। पढ़ाई में स्थानीय विद्वानों के उपरांत श्री चिमनभाई सोनगढ़, श्री नेमीचंदभाई रखियाल, श्री बाबूभाई फतेपुर से पधारे थे। १३ दिन तक श्री पंडित हिम्मतभाई (बम्बई) तथा ८ दिन तक श्री पंडित खीमचंदभाई सोनगढ़ के आध्यात्मिक प्रवचन हुए। जिन्हें सुनकर समस्त श्रोतागण आत्मविभोर होते थे। शिविर का उद्घाटन-समारोह श्री पंडित नाथूलालजी शास्त्री की अध्यक्षता में हुआ था। अध्यात्मरुचि को जागृत करने एवं सच्चे मोक्षमार्ग के संदेश को प्रसारित करने में परमोपकारी श्री कानजीस्वामी तथा श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट के प्रति समाज ने हार्दिक कृतज्ञता प्रगट की। शिक्षण-शिविर के आयोजन में करीब ५०० छात्रों ने भाग लिया। श्री पंडित खीमचंदभाई के शुभहस्त से २५ छात्रों को पुरस्कार दिया गया।

—रत्नलाल गंगवाल (अध्यक्ष), श्री जैनधर्म शिक्षण संयोजक समिति, इंदौर

गुना—(म.प्र.) इंदौर में जैन शिक्षण शिविर के समय हमारी विशेष प्रार्थना पर ध्यान देकर सोनगढ़ की ओर से विद्वान श्री नेमीचंदभाई सात दिन के लिये गुना पधारे और 'मोक्षमार्गप्रकाशक' द्वारा सभी जिज्ञासुजनों को धर्म का स्वरूप समझाया था। समस्त जैन समाज हमेशा तीनों बार प्रवचन में भाग लेती थी। सोनगढ़ के बारे में जिनकी भ्रामक मान्यता थी, वह दूर हो गई। निश्चय-व्यवहार धर्म की स्पष्टता सहित हेय-उपादेय आदि विषयों की अच्छा स्पष्टीकरण किया। समाज ने बहुत उपकार माना।

—मांगीलाल जैन, मंत्री, दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, गुना

जयपुर:—श्री टोडरमलजी स्मारक भवन द्वारा जैनधर्म शिक्षण-शिविर का विस्तृत आयोजन था। २१ दिन तक उच्च शिक्षा प्राप्त अध्यापक-अध्यापिकाएँ, छात्र-छात्राएँ; अन्य छोटे-बड़े सभी ने उत्साहपूर्वक अध्ययन किया। सोनगढ़ के प्रसिद्ध विद्वान श्री खीमचंदभाई

की अध्यापन-शैली से सब अत्यंत प्रभावित हुए। शिक्षार्थी अपने को धन्य मानते हुए कहते थे कि हमको नया जीवन-नई दिशा मिली है। श्री खीमचंदभाई की भावभीनी-विदा का दृश्य उत्साहपूर्ण था। तारीख १७-७-६९ को ८ केन्द्रों के सभी छात्रों की परीक्षा ली गयी। ८०९ संख्या में से ६५७ छात्र जयपुर के बैठे थे, उपरांत बाहर के ५५० छात्रों ने परीक्षा दी थी। इस सत्र में करीब १३०० छात्रों की धार्मिक परीक्षा ली गई।

दोपहर में अध्यापकों की परीक्षा के समय का दृश्य देखते ही बनता था। सभी बड़े-बड़े हेडमास्टर, तथा उच्च कक्षा के ५३ अध्यापक थे। सब बहुत उत्साह से परीक्षा दे रहे थे। परीक्षाफल बहुत संतोषप्रद-उत्साहवर्धक था। ट्रेनिंग देने की पद्धति को सभी अध्यापकों ने अच्छी तरह हृदयंगम की जो धन्यवाद के पात्र हैं। इतने उत्तम परीक्षाफल से साबित होता है कि पंडित श्री हुकमचंदजी की शैली बहुत सफल रही है। सभी आपके गुणों से प्रभावित थे, आप अनेक आयोजनों की व्यवस्था करते थे; परीक्षाफल निकालना आदि सभी कार्यभार सहर्ष अथकता से निभा रहे थे। सभी खर्च उपरांत सेवाएँ श्री गोदीकाजी की हैं। श्री महेन्द्रकुमारजी सेठी का सहयोग भी चिरस्मरणीय था। समारोह-समापन के समय सभी छात्र-छात्राएँ एवं अध्यापकों को इनाम में मोक्षमार्गप्रकाशक, श्रावकर्थम प्रकाश, टोडरमलजी स्मारिका, जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला, पुरुषार्थसिद्धितपाय, तत्त्वनिर्णय यह ६-६ पुस्तकें तथा सर्वप्रथम, द्वितीय, तृतीय नंबर को प्रवचनसार आदि विशेषरूप से दिये गये थे।

बड़ी खुशी की बात है कि जयपुर के प्रसिद्ध स्कूल 'महावीर स्कूल' में करीब २२०० छात्र पढ़ते हैं, और उन्होंने वहाँ हमारा धार्मिक पाठ्यक्रम चालू करने की घोषणा कर दी है। अन्य विद्यालयों में तो पहले ही घोषणा हो चुकी है। जयपुर की सभी संस्थाओं में भी इसप्रकार जैन शिक्षण का पठन-क्रम चालू हो जावेगा और करीब ५००० बालक धार्मिक शिक्षा लेने लगेंगे, जिसका फल ३-४ साल बाद मालूम होगा। परमोपकारी पूज्य कानजीस्वामी का यह महान प्रताप है जो प्रतिदिन धर्म-प्रचार बढ़ाता ही जाता है। सारे भारत में सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वज्ञान की धूम मची है। इस वर्ष जनवरी से अब तक १८०० से अधिक छात्र इस पठन-क्रम के अंतर्गत परीक्षा दे चुके हैं, सबको प्रमाणपत्र पहुँच रहे हैं। प्रगति अत्यंत उत्साहवर्धक है।

— नेमीचंद पाटनी

दाहोदः—इंदौर से लौटते समय हमारी प्रार्थना स्वीकार करके श्री पंडित खीमचंदभाई

हमारे नगर में पधारे। आपके ४-प्रवचनों का समाज ने अच्छी तरह लाभ लिया।

—कनुभाई शाह

आगरा तथा महीदपुरः—श्री पंडित नेमीचंदजी रखियालवाले हमारी प्रार्थनावश पधारे थे। जैनधर्म शिक्षण उत्तम शैली से चलाया, धार्मिक प्रवचनों में समाज ने विशेष रुचिपूर्वक लाभ लिया। ऐसे विद्वानों की हमें बहुत आवश्यकता है।

—पदमचंद जैन; शांतिलाल सोगानी

दक्षिण में धर्मप्रचार

आलंदः—[श्री नवनीतभाई सी. जवेरी की ओर से प्रचारक ब्रह्मचारी पंडित दीपचंदजी आठ स्थानों पर गये। जहाँ से आमंत्रण आते हैं, वहाँ जाते हैं।] हम आलंद पंडितजी को धर्मप्रचारार्थ ले आये। पाँच दिन में दोनों समय चारों अनुयोगों पर श्री कानजीस्वामी के प्रवचन टेपरील रेकार्डिंग द्वारा सुनाकर मराठी भाषा में स्पष्टता से समझाया; जैनसंस्कृति का रक्षण तथा सम्यगदर्शन प्रगट करने के लिये स्वाश्रितज्ञान की दृष्टि बतलायी। समाज को समयसार, प्रवचनसार, मोक्षमार्गप्रिकाशक, छहढाला, लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका आदि का स्पष्टतापूर्वक परिचय कराया। जैन तीर्थक्षेत्रों की फिल्म बताई, महिलाओं और पुरुषों के लिये अलग-अलग दिग्म्बर जैन मुमुक्षु स्वाध्यायमंडल की स्थापना की गई।

—इंद्रजीत गुलाबचंद एडवोकेट, आलंद

अकलकोट, गुलबर्गा, बार्सीटाउन, कुंभोज-बाहुबली, कारंजा, फालेगांव, सोलापुर प्रत्येक नगर में ४-४ दिन का कार्यक्रम रखा गया। और जैन शिक्षणवर्ग, शंका-समाधान, तीर्थयात्रा फिल्म, शास्त्रसभा तथा टेपरिकार्ड द्वारा अच्छा प्रचार हुआ। महाराष्ट्र में २२ जगह स्वाध्याय मंडलों की स्थापना हो गई है, जिन्हें श्री नवनीतभाई सी. जवेरी के द्वारा मराठी भाषा में सम्यगदर्शन, लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका तथा हिन्दी में जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला, जैन बालपोथी, अष्टप्रवचन, वस्तुविज्ञानसार, वीतरागविज्ञान पाठमाला के दो भाग, बालबोध पाठमाला, आत्मधर्म मासिक एक वर्ष के लिये भेंटस्वरूप दिये गये हैं। तथा मराठी जैनपत्र 'तीर्थकर' के ग्राहकों को मराठी भाषा में लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका की १२५० प्रतियाँ भेंटस्वरूप दी गई हैं।

—दीपचंद जैन

शुभराग से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, तथापि उसमें दुःख ?

जीव अज्ञान से जिसप्रकार स्वयं को देहरूप मानता है, उसीप्रकार रागादिभाव प्रगटरूप से दुःखदायक होने पर भी अज्ञान से जीव उन्हें सुखरूप मानकर सेवन करता है। आस्त्रवभाव जीव के स्वभाव से भिन्न-पृथक् होने पर उन्हें अपना स्वरूप मानकर सेवन करता है। शुभराग से हमें कुछ लाभ होगा, वह मोक्ष का कारण होगा—ऐसा जो मानते हैं, उन्होंने आस्त्रवतत्त्व को आस्त्रवरूप न जानकर संवर-निर्जरारूप माना है, आस्त्रव दुःखरूप होने पर भी उसे हितरूप माना; वह अधर्म होने पर भी उसे धर्म का साधन माना; वह बंधभाव होने पर भी उसे मोक्ष का साधन माना; वह आपत्ति होने पर भी उसमें आत्मसंपत्ति प्राप्त होगी—ऐसा माना।—इसप्रकार अज्ञानी को तत्त्व में भूल है। जो जीव दुःख देनेवाले भावों को सुख देनेवाला मानकर उनका सेवन करता हो, वह दुःख से कब छूटेगा ? अशुभराग और शुभराग दोनों में दुःख ही है।

प्रश्नः—शुभ से स्वर्ग की प्राप्ति तो होती है ?

उत्तरः—अरे भाई, स्वर्ग की प्राप्ति हो, उसमें आत्मा को क्या ? स्वर्ग की सामग्री में जिसे सुख भासित होता है और उस सामग्री रहित अतीन्द्रिय आत्मसुख जिसे भासित नहीं होता, वह मिथ्यादृष्टि है। प्रवचनसार में कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि:—पुण्यफल की इच्छा द्वारा दुःखी जीव मृगतृष्णा के जल की भाँति विषयों में सुख की इच्छा करते हैं। पुष्पवान भी पापियों की तरह विषयों की इच्छा करने से दुःख को प्राप्त होते हैं। पुण्य भी पाप की तरह दुःख का साधन है। शुभ और अशुभ (पुण्य और पाप) दोनों अनात्मभाव हैं, दोनों शुद्धोपयोग से विपरीत हैं, इसप्रकार जो पुण्य और पाप को समान नहीं मानता और पुण्यफल में सुख मानकर उसका मोह करता है, वह जीव मिथ्यादृष्टिरूप से संसार-भ्रमण करता हुआ दुःख का ही अनुभव करता है।

शांत-आनंदस्वरूप आत्मा, उससे विरुद्ध पुण्य-पाप के भाव आकुलतारूप हैं। जो जीव शुभराग को चेतनरूप-हितरूप मानकर सेवन करते हैं, वे वीतरागी आत्मा का अनादर करते हैं। अमृतस्वरूप आत्मा के वेदन में परम-शांति है। राग के वेदन में शांति नहीं, उसमें तो आकुलता ही है, वह प्रगटरूप से दुःख देनेवाला है; परंतु अज्ञानी को उसमें आनंद आता है क्योंकि आत्मा की सच्ची शांति का उसने कभी अनुभव नहीं किया।

खेलकूद में आनंद मानता है लेकिन उसमें आकुलता है, भ्रमवश उसमें सुख प्रतीत होता है। अशुभ में भी दुःख है और शुभ में भी दुःख है। शुभ-अशुभ दोनों से पार चैतन्यभाव में ही सुख है एवं वही मोक्षमार्ग है।

[गुजराती, वीतरागविज्ञान भाग २ से]

विश्वतत्त्वों का सत्यस्वरूप सम्यक् अनेकांत द्वारा बतलाकर सच्चा समाधान, एवं
अपूर्व शांति का उपाय दर्शनेवाले—

सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

| | | | | | |
|----|-----------------------------------|-------------|----|---|------------|
| १ | समयसार | (प्रेस में) | १६ | धर्म के संबंध में अनेक भूलें | बिना मूल्य |
| २ | प्रवचनसार | ४.०० | १७ | अष्ट-प्रवचन | १.५० |
| ३ | समयसार कलश-टीका | २.७५ | १८ | मोक्षमार्गप्रकाशक (दृंढारी भाषा में) | २.२५ |
| ४ | पंचास्तिकाय-संग्रह | ३.५० | | (सस्ती ग्रंथमाला दिल्ली) | |
| ५ | नियमसार | ४.०० | १९ | पण्डित टोडरमलजी स्मारिका | १.०० |
| ६ | समयसार प्रवचन (भाग-४) | ४.०० | २० | अपूर्व अवसर-प्रवचन | १.५० |
| ७ | मुक्ति का मार्ग | ०.५० | २१ | बालबोध पाठमाला, भाग-१ | ०.४० |
| ८ | जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग-१ | ०.७५ | २२ | बालबोध पाठमाला, भाग-२ | ०.५० |
| | ” ” ” भाग-२ | १.०० | २३ | बालबोध पाठमाला, भाग-३ | ०.५५ |
| | ” ” ” भाग-३ | ०.५० | २४ | वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-१ | ०.५० |
| ९ | चिदविलास | १.५० | २५ | वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-२ | ०.६५ |
| १० | जैन बालपोथी | ०.२५ | | पाँच पुस्तकों का कुल मूल्य | २.६० |
| ११ | समयसार पद्यानुवाद | ०.२५ | २६ | लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका | ०.२५ |
| १२ | द्रव्यसंग्रह | ०.८५ | २७ | सन्मति संदेश | |
| १३ | छहडाला (सचित्र) | १.०० | | (पूज्य श्री कानजीस्वामी विशेषांक) | ०.५० |
| १४ | अध्यात्म-संदेश | १.५० | २८ | मंगल तीर्थयात्रा (गुजराती-सचित्र) | ६.०० |
| १५ | नियमसार (हरिगीत) | ०.२५ | | | |

प्राप्तिस्थान :

श्री दिग्म्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री दिग्म्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये प्रकाशक एवं मुद्रक :

मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)